

नवंबर 2013 मूल्य: 20 रुपए

साभयिक वार्ता

लिंगराज आजाद से बातचीत

दुनिया का खेला

मीडिया और विकास

युद्ध या बुद्ध

सुनियोजित एकतरफा दंगा

दिल्ली किसकी

सपने का सच



बहुत आजादी से मैं मानता हूँ

प्रधानमंत्री, मुहम्मद अलजमी
(ट्यूनिशिया के पूर्व प्रधानमंत्री),
अगर हमने नाप ली तुम्हारी ताकत
तो संविधान की शमा तुम थाम नहीं पाओगे,
हम बेन अली (ट्यूनिशिया के पूर्व तानाशाह)
के लिए
कोई आंसू नहीं बहाने वाले
ना ही उसके राज-पाट के लिए,
ये एक लम्हे के सिवा कुछ भी नहीं,
हमारे जमाने में, ऐतिहासिक और तानाशाह का
एक तंत्र उत्पीड़न का चला
निरंकुशता का एक दौर
ट्यूनिशिया ने दिखला दिया है जनता का रोष,
जब हम इल्जाम लगाते हैं तो
वो होता है इस दलील पर
कि नीच ने कैसे हमारा उत्पीड़न किया
और जब हम तारीफ करते हैं
तो वो सीधे दिलों से होती है,
एक क्रांति जो अवाम के खून से सनी है
उसका वैभव दूर पड़ा है, हर जिंदा की शान,
तो, बागी उन्हें कह दो,
कब्र से डूबी एक आवाज,
बता दो वो त्रासदियां जो जीत से पहले की हों,
एक बिगड़ल शासक के देश को चेतावनी है
जो समझता है कि वो ताकतवर है,
जो अमरीकी आर्मी का आदमी है,
एक चेतावनी उस देश को जिसके लोग भूखे मरते हैं,
जबकि उसका राजा
अपनी समृद्धि का दावा करता है,
एक चेतावनी उस देश को जिसके लोग सोए पड़े हैं
एक क्षण निकालें अपने हक के लिए
अगला लम्हा तो वो (शासक) तुमसे छीन लेगा
एक चेतावनी उस तंत्र को
जिसे उत्पीड़न से सींचा गया है,
कब तक तुम इनके गुलाम बने रहोगे?
एक इंसान की स्वार्थी पूर्वाभिरुचियों का,

कब तक जनता बनी रहेगी
अपनी ही ताकत से अनजान?
जबकि एक तानाशाह देता है फरमान
और करता है नियुक्तियां
जनता की उस शक्ति के आधार पर
जो वो भूल चुकी है।
क्यों एक शासक का फैसला ही मान लिया जाएगा?
वो वापस आएं, बताने के लिए
मुल्क की आवाज पर
बलात्कार से छुटकारे के लिए,
बता दो उन्हें कि वो (शासक)
सिर्फ अपनी खुशियां जानता है और कुछ नहीं
करता,
जो अपने लोगों पर खीजता है, बता दो उसे कि कल
कोई और उसके सिंहासन पर बैठेगा
जो जानेगा कि देश उसकी बपौती नहीं
ना ही उसके बच्चों की जागीर
ये अवाम की है और इसका वैभव जनता का वैभव है
उन्होंने अपना जवाब दे दिया है
और उनकी आवाज एक है
और उनका नसीब भी एक था
हम सब ट्यूनिशिया हैं
इन तमाम उत्पीड़नों के आगे,
ये अरब के शाहजादे और हम पर राज करने वाले,
हम सब (ट्यूनिशिया) हैं बिना किसी अपवाद के,
एक भी अपवाद के बिना (हम सब ट्यूनिशिया हैं),
शर्म करो चोरों
ये सवाल तुम्हें रात भर जगाए रखेगा
जिसका जवाब तुम नहीं जानते
ना ही तुम्हारे ऑफिशियल चैनल बता सकते हैं,
क्यों, क्यों ये हुकूमतें
हर चीज पश्चिम से मंगाती हैं
बस वहां का कानून का राज (लोकतंत्र) ही नहीं मंगातीं
सब मंगाती हैं (पश्चिम से)
बस आजादी को छोड़ कर।

मुहम्मद अलजैब अलअजमी

चौतीस वर्षीय अलजैब अलअजमी का जन्म कतर में हुआ। पढ़ाई मिस्त्र के काहिरा विश्वविद्यालय से की है। इस कविता के कारण 16 नवंबर 2011 को उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। उन पर आरोप हैं कि उन्होंने अपनी कविता में ट्यूनिशिया के बहाने कतर के पूर्व अमीर और उनके युवराज पुत्र की तोहीन की है। कतर में अमीर या राजपरिवार के अपमान की सजा मौत है लेकिन अलअजमी की गिरफ्तारी के बाद, देश में और बाहर भी, उनके समर्थन में कई युवा खड़े हो गए हैं। खबर है कि कोर्ट ने अलअजमी की सजा घटा कर पंद्रह वर्ष कर दी है। ह्यूमन राइट्स वॉच समेत कई अंतरराष्ट्रीय मानवाधिकार संगठन उनकी बिना शर्त सुरक्षित रिहाई की मांग कर रहे हैं। इस कविता का अरबी से अनुवाद अखलाक अहमद उस्मानी ने किया है, जो एक स्वतंत्र पत्रकार एवं पत्रकारिता के प्राध्यापक हैं।

सामयिक वार्ता

नवंबर 2013, वर्ष 37, अंक 3-4

संस्थापक संपादक: किशन पटनायक

संपादक: सुनील

उपसंपादक: बाबा मायाराम

संपादन सहयोग:

सत्येन्द्र रंजन, अरविंद मोहन, हरिमोहन, राजेन्द्र राजन,
प्रियदर्शन, अरुण त्रिपाठी, मेधा, चंदन श्रीवास्तव

परामर्श मंडल:

सच्चिदानंद सिन्हा, अशोक सेकसरिया,
योगेन्द्र यादव, कश्मीर उप्पल

प्रबंधक: चंद्रशेखर मिश्रा

कार्यालय: सामयिक वार्ता, द्वारा चंद्रशेखर
मिश्रा, दूसरी लाइन, इटारसी, जिला
होशंगाबाद, म.प्र. पिन 461111

फोन: 09425040452, 9424437330

(संपादन) 09993737039 (प्रबंध)

ई-मेल varta3@gmail.com

आवरण चित्र: अवधेश वाजपेयी

सदस्यता शुल्क

वार्षिक शुल्क: 100 रूपए

संस्थागत वार्षिक शुल्क: 200 रूपए

पांच वर्षीय शुल्क: 600 रूपए

आजीवन शुल्क: 2000 रूपए

सदस्यता शुल्क चेक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर द्वारा
'सामयिक वार्ता ट्रस्ट' के नाम से दफ्तर के पते
पर भेजें।

सदस्यता/सहायता/एजेंसी की राशि कोर बैंकिंग
के जरिए पंजाब नेशनल बैंक में कहीं भी उपरोक्त
नाम से खाता क्रमांक **3979000100117987** (ifsc
code **punbo397900**) में जमा कर सकते हैं।
जमा करने की सूचना और अपना पता हमें पत्र
से अवश्य भेजें। आप पहले से वार्ता के ग्राहक हैं
लेकिन वार्ता आप तक नहीं पहुंची हो तो एक
पोस्टकार्ड डालकर हमें भूल-सुधार का मौका दें।

इस अंक में

11

सुनहरे सपने का सच

दुनु राय

14

गलत विकास के भंवर में

सुनील

22

मीडिया और विकास

सच्चिदानंद सिन्हा

25

बढ़ती कारें, बढ़ती समस्याएं

रामप्रताप गुप्ता

28

दंगामुक्त भारत कैसे बने

असगर अली इंजीनियर

32

सोने के अंडे वाली मुर्गी

लिंगराज आजाद

40

दुनिया का खेला

अनुपम मिश्र

44

दुनिया का दादा अमरीका

संदीप

46

युद्ध या बुद्ध

अरविंद गुप्ता

49

अंधेरे में रोशनी

कश्मीर उप्पल

51

सुनियोजित एकतरफा दंगा

नागरिक जांच दल

54

दिल्ली की असलियत

सुनील कुमार

57

राजधानी में नियमगिरि की गूंज

अतुल कुमार

एक अधूरा काम

एक के बाद एक लगातार तीन घटनाओं ने भारत राष्ट्र और भारतीय समाज की बुनियादी कमजोरियों को एक बार फिर उजागर किया है। डा. नरेंद्र दाभोलकर की हत्या, आशाराम बापू प्रकरण तथा मुजफ्फरनगर के दंगों ने दिखाया कि हमारी आधुनिकता कितनी सतही है तथा सभ्य समाज होने का हमारा दावा कितना खोखला है। इन तीन मामलों में सरकारों और राजनैतिक दलों का दोष तो है जिस पर चर्चा हुई है। लेकिन सवाल यह भी है कि भारतीय समाज को क्या हो गया है?

अंधश्रद्धा निर्मूलन आंदोलन के डा. नरेंद्र दाभोलकर कहते थे कि वे धर्म के खिलाफ नहीं हैं। वे तो अंधविश्वासों, चमत्कारों और बाबाओं की पोल खोलते हैं। क्या उनका यह अभियान नीहित स्वार्थों के लिए इतना बड़ा खतरा बन गया था कि उनको जान से खतम करने की जरूरत पड़ गई? उनके हत्यारे ढाई महीने बाद भी नहीं पकड़े गए हैं (सरकारी तंत्र की लापरवाही का यह एक उदाहरण है), इसलिए इसका पक्का जवाब देना मुश्किल है। लेकिन यह सही है कि भारतीय समाज में कट्टरता और असहिष्णुता बढ़ती जा रही है। कोई किताब, फिल्म या कलाकृति किसी की भी 'धार्मिक भावनाओं को आहत' करने लगती है। मकबूल फिदा हुसैन जैसे महान कलाकार को देश छोड़ना पड़ता है। जिस देश में शास्त्रार्थ, बहस और मतों की बहुलता की परंपरा रही है, वहां अब आलोचना और असहमति को बरदाश्त नहीं किया जा रहा है।

आशाराम बापू का प्रकरण पहला और नया नहीं है। जो कल तक लाखों लोगों की श्रद्धा का पात्र था आज वह बदनाम अपराधी में बदल गया है। सवाल है कि आशाराम क्यों बनते हैं? क्योंकि भारतीय जनता का एक बड़ा हिस्सा चमत्कारों के पीछे भागता है, बाबाओं के पास अपने कष्टों के हल ढूंढता है और उनपर आंख मूंदकर भरोसा करता है। यदि ऐसा न होता तो आशाराम का भंडाफोड़ काफी पहले हो जाता।

कुछ दशक पहले तक भारत में सांप्रदायिक दंगे एक शहरी चीज थे। लेकिन अब गांव अछूते नहीं रह गए हैं। गांव-गांव में होने वाली हिंसा को पुलिस प्रशासन के

लिए नियंत्रित करना ज्यादा कठिन है। मौतों और विस्थापन की तादाद के हिसाब से मुजफ्फरनगर के दंगे आजाद भारत के बड़े सांप्रदायिक दंगों में से एक है। जैसा कि करीब-करीब हर दंगे में होता है, मरने वालों और भागकर शिविरों में शरण लेने वालों में ज्यादातर मुसलमान हैं। वे कह रहे हैं कि अब वापस नहीं जाएंगे, याने हिंदूओं और मुसलमानों का अलगाव स्थाई हो जाएगा। इन दंगों ने बताया कि संघ परिवार और भाजपा उस जाट इलाके में घुसपैठ कर चुके हैं और अपना आधार बना चुके हैं, जहां अभी तक जाटों व मुसलमानों में सद्भाव और राजनैतिक गठजोड़ हुआ करता था। जो भारतीय किसान यूनियन कभी अपने आंदोलनों में 'हर हर महादेव' और 'अल्लाह-ओ-अकबर' के नारे साथ-साथ लगाती थी, वह भी अब फिरकापरस्त ताकतों का मोहरा बन चुकी है। खाप पंचायतों और महापंचायतों की नई खतरनाक भूमिका सामने आई है। यह भी गौरतलब है कि इस दंगे के मूल में एक हिंदू लड़की के एक मुस्लिम लड़के से मोहब्बत का मामला था। इसे विश्व हिंदू परिषद ने हिंदू स्वाभिमान का मुद्दा बनाया और 'लव जिहाद' के खिलाफ बहु-बेटी बचाओ आंदोलन बताया। याने सांप्रदायिकता, जाति और स्त्री की गुलामी की व्यवस्था ने मिलकर मुजफ्फरनगर की घटनाओं को अंजाम दिया।

जाति की वापसी

इक्कीसवीं सदी के तेरहवें साल में घटी इन तीन घटनाओं और ऐसी अन्य कई प्रवृत्तियों ने बताया कि कई मायनों में हम पीछे जा रहे हैं। मिसाल के लिए जाति को लें। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में भारत में नवजागरण की जो लहर चली, उसमें छुआछूत, ऊंच-नीच और जाति प्रथा की बुराईयों के खिलाफ एक माहौल बना। विवेकानंद, दयानंद सरस्वती, फुले, आंबेडकर, पेरियार, नारायण गुरु, गांधी, लोहिया आदि ने इस पर प्रहार किया। यह उम्मीद थी कि जाति प्रथा धीरे-धीरे कमजोर हो जाएगी। लेकिन इधर जाति फिर मजबूत होती दिखाई दे रही है। भारत में लोकतंत्र नीचे तक पहुंच रहा है, गहरा हो रहा है, लेकिन

इसी का नतीजा दिखाई दे रहा है कि हर जाति के उग्र संगठन बन रहे हैं। केवल दबी हुई जातियां नहीं, जो आगे बढ़ने के अवसर खोजती हैं, बल्कि द्विज जातियां भी संकीर्ण कठघरों में गोलबंद हो रही हैं। हद तो तब हो जाती है जब जेपी की पुण्यतिथि अखिल भारतीय कायस्थ सभा या चित्रगुप्त सभा द्वारा मानने के समाचार आते हैं, सरदार पटेल की जयंती कुर्मी समाज मनाता है और महाराणा प्रताप जयंती पर राजपूत समाज धूमधाम से जुलूस निकालता है। जो कल तक पूरे भारत की धरोहर थे, वे अब सिमटकर जाति विशेष के महापुरुष बन रहे हैं।

खोखली धार्मिकता, नकली आधुनिकता

आज प्रवचनों, तीर्थों और मंदिर-मस्जिदों में भीड़ बढ़ रही है। दुर्गापूजा, गणेश पूजा और ऐसे तमाम त्यौहारों को अब काफी धूमधाम से मनाया जाता है। लेकिन इस फिजूलखर्च और शोर-शराबे में धर्म की मूल भावनाएं और सिद्धांत लुप्त होते जा रहे हैं। समाज में नशा, दहेज, अश्लीलता, दिखावा और अन्य कुरीतियां बढ़ती जा रही है। स्त्रियों व दलितों पर अत्याचार कम नहीं हुए हैं। संस्कृति के नाम पर अपसंस्कृति को बढ़ावा मिल रहा है। यदि जीन्स पहनने, मोबाइल फोन या कंप्यूटर का उपयोग करने, गलत-सलत अंगरेजी बोलने-लिखने, बच्चों को अंगरेजी माध्यम के स्कूलों में डालने तथा अंगरेजी की कविताएं रटाने तक ही हमारी आधुनिकता सीमित हो गई है, तो इसका मतलब है कि हमारी राष्ट्रीय चेतना में कहीं बड़ी भारी खोट है। नकल को ही हमने प्रगति समझ लिया है और नकल में भी अकल लगाने की जरूरत नहीं समझी है।

आज यदि भारतीय समाज में संकीर्णता, असहिष्णुता, कट्टरता, फिरकापरस्ती, पाखंड, अंधविश्वास और कुरीतियों को बोलबाला है, संप्रदाय व जाति के कटघरे हमें बांट रहे हैं और नफरत पैदा कर रहे हैं तथा स्त्रियों के प्रति अन्याय और भेदभाव कायम है तो ये सब भारतीय समाज के गहराते संकट के विविध पहलू हैं। इसका मतलब है कि उन्नीसवीं सदी में जिस नवजागरण और सामाजिक क्रांति की शुरुआत हुई थी, वह रूक गई है और उसका काम अधूरा रह गया है। 1947 के पहले के डेढ़ सौ सालों में भारत में अनेक समाज

सुधारक और धर्म सुधारक हुए थे, जिन्होंने पश्चिम से टकराव के बरक्स भारतीय समाज व धर्म की अधोगति को पहचाना, भारतीय समाज को ललकारा और भक्ति आंदोलन के बाद के काल में जम गए कचरे, काई व सड़ांध को साफ करके उसके नवनिर्माण की कोशिश की। इसकी जरूरत इतनी ज्यादा थी कि आजादी के राजनैतिक आंदोलन में लगे गांधी जैसे नेताओं ने भी छुआछूत खातमा, स्त्री-शिक्षा, नशामुक्ति आदि को अपना प्रमुख कार्यक्रम बनाया। गांधी खुद कभी मंदिर नहीं जाते थे, लेकिन अछूतों के मंदिर प्रवेश का आंदोलन उन्होंने चलाया। अफसोस है कि 1947 के बाद कोई बड़ा संत, नेता या समाज सुधारक इन मोर्चों पर काम करता नहीं दिखाई देता।

फटा हुआ व्यक्तित्व

इस देश में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के एक बड़े समर्थक, पहले भारतीय प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने 1955 में रामधारी सिंह दिनकर की मशहूर किताब 'संस्कृति के चार अध्याय' की भूमिका में लिखा है,

“भारत में दोनों बातें एक साथ बढ़ीं। एक ओर तो विचारों और सिद्धांतों में हमने अधिक-से-अधिक उदार और सहिष्णु होने का दावा किया। दूसरी ओर, हमारे सामाजिक आचार अत्यंत संकीर्ण होते गए। यह फटा हुआ व्यक्तित्व, सिद्धांत और आचरण का यह विरोध आज तक हमारे साथ है और आज भी हम उसके विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं।”

यह फटा हुआ व्यक्तित्व या विचार-व्यवहार का दोगलापन भारत के पढ़े-लिखे बुद्धिजीवी की खास विशेषता है। समाजवादी चिंतक किशन पटनायक ने 1982 में 'सभ्यता का संकट और भारतीय बुद्धिजीवी' नामक लेख में इसके उदाहरण के रूप में पेश किया है- 'श्री आरक्षण विरोधी जनेरुधारी कंप्यूटर विशेषज्ञ'। उन्होंने लिखा है,

“भारतीय बुद्धिजीवी को जब पश्चिमी सभ्यता अधूरी लगती है, तब वह प्राचीनता की किसी गुफा में घुस जाता है और जब वह अपनी सभ्यता के बारे में शर्मिंदा होता है तब पश्चिम का उपनिवेश बनकर रहना स्वीकार कर लेता है। दोनों सभ्यताओं से संघर्ष करने की प्रवृत्ति भारतीय बुद्धिजीवी जगत में अभी तक नहीं विकसित हुई है या जो हुई, वह खतम हो गई है।”

दोनों सभ्यताओं के दोष

किशन पटनायक बताते हैं कि आधुनिक सभ्यता की कमी है कि वह उपनिवेश बनाती है। प्राचीन भारतीय सभ्यता की कमी है कि उसमें सामाजिक समता तथा मानवीयता के मूल्यों का लोप होता गया। इसी बात को आगे बढ़ाएं तो आधुनिक सभ्यता आर्थिक गैरबराबरी, यंत्रवाद, भोगवाद, उपभोक्ता संस्कृति और पर्यावरण का संकट लाती है। दूसरी ओर भारतीय परंपरा को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लें तो उसमें दलितों व स्त्रियों को इंसान का दर्जा भी नहीं दिया गया है, ऊंच-नीच की अनगिनत सीढ़ियां हैं, कट्टरता है, अंधविश्वास है, पाखंड और कर्मकांड का बोलबाला है। ऐसा नहीं है कि भारत की संस्कृति और परंपरा पूरी तरह तथा हमेशा ऐसी रही है। उसमें कई समतावादी, उदार, सहिष्णु, विविधता पोषक और प्रगतिशील धाराएं भी रही हैं। लेकिन भक्तिकाल के बाद अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी में जो गिरावट आई, उसने उन्हें कमजोर बनाया तथा संकीर्ण-अनुदार तत्वों को हावी होने का मौका दिया है।

दोनों सभ्यताओं में कमियां थी और विशेषताएं थी। हमें दोनों में से अच्छाईयों को चुनना था और बुराईयों को निकाल देना था। इससे एक नई सभ्यता का निर्माण होता। उन्नीसवीं-बीसवीं सदी के सुधारकों ने इसी दिशा में कोशिश की। लेकिन शायद भारतीय समाज की जड़ता, विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग का वर्चस्व और मानसिक पराधीनता के तत्व इतने हावी रहे कि यह कोशिश ज्यादा सफल नहीं हो पाई।

गलत चुनाव

जैसा कि भारत डोगरा एक ताजा लेख 'गांवों को न सहेजने का खामियाजा' में इंगित करते हैं, हमने दरअसल उलटा किया। परंपरा में जो वास्तव में सहेजने और सीखने की चीजें थी, जैसे पारंपरिक ज्ञान (खेती, सिंचाई, जल प्रबंध, चिकित्सा, दस्तकारी आदि संबंधी) का खजाना, उसकी तो उपेक्षा की, तिरस्कार किया और उसे नष्ट होने दिया। दूसरी ओर परंपरा को जो पक्ष त्याज्य था, जैसे विषमता, अन्याय, छुआछूत, अंधविश्वास, संकीर्णता, पाखंड, आडंबर आदि, उसे अपनी छाती से उसी तरह

चिपका कर रखा जैसे बंदरिया अपने मृत बच्चे को लेकर घूमती है।

भारत की मौजूदा दुर्दशा का कारण शायद यही गलत चुनाव है। ब्राह्मणवाद-मनुवाद और अंधा पश्चिमीकरण दोनों भारत के लिए घातक साबित हुए हैं। देश और मानवता की भलाई चाहने वाले लोग भी अतियों के शिकार हो जाते हैं। एक तरफ कुछ कम्युनिस्ट और तर्कवादी लोग हैं जो धर्म, परंपरा और संस्कृति से जुड़ी हर चीज का विरोध करने लगते हैं और उसे दकियानूसीपन, प्रतिक्रियावाद व सांप्रदायिकता का पर्याय मान लेते हैं। दूसरी तरफ संघी, भारतीयतावादी और परंपरावादी लोग हैं जो परंपरा की हर चीज को श्रेष्ठ ठहराने और उसका महिमामंडन करने लगते हैं। इन दोनों अतियों से भारत का नुकसान हुआ है। भारत को आधुनिकता और परंपरा, विज्ञान और नैतिकता, तर्क और आस्था, पश्चिम और पूरब दोनों के साथ आलोचनात्मक रिश्ते, लेनदेन और समन्वय की जरूरत है। ऐसा क्यों नहीं हुआ, इसका एक अंदाज किशन पटनायक 1998 में लिखे दूसरे लेख 'संस्कृति और अपसंस्कृति' में लगाते हैं-

“भारत का पश्चिम से संपर्क सिर्फ आधिपत्य का रहा। इसलिए आधुनिक विज्ञान का जो भारतीय रूप होना चाहिए था, आधुनिक काल के प्रभाव से धर्म और अर्थनीति में जिस प्रकार का परिवर्तन होना चाहिए था, वह नहीं हो सका। अगर साम्राज्यवाद से जुदा आधुनिक विज्ञान और दर्शन का संयोग एक स्वस्थ भारतीय संस्कृति के साथ होता तो धर्म, समाज और अर्थनीति का विकास किन दिशाओं में हो सकता था, उसका अनुमान स्वामी दयानंद, विवेकानंद और गांधी के प्रयासों को देखकर लगाया जा सकता है।”

लेकिन इतिहास की दुर्घटनाओं का रोना लेकर हम नहीं बैठ सकते। भारतीय नवजागरण और सामाजिक क्रांति का जो काम अधूरा रह गया है, उसे आज फिर से उठाने और पूरा करने की जरूरत है। यदि आधुनिक पश्चिमी सभ्यता और प्राचीन भारतीय सभ्यता के सकारात्मक तत्वों और गुणों का मेल हम कर सके और दोषों की सफाई कर सके, तो न केवल भारत राष्ट्र विकृतियों और बुराइयों से मुक्त हो सकेगा, बल्कि एक नई सभ्यता का उदय हो सकेगा। यह इक्कीसवीं सदी की चुनौती है।

सुनील

इनकार के अधिकार से ज्यादा उम्मीद न करें

असली चुनौती लोकतांत्रिक ढांचे के विकेंद्रीकरण और राजनैतिक विकल्प खड़ा करने की है

इनकार का अधिकार और प्रतिनिधि वापसी का अधिकार- लोकतांत्रिक प्रतिनिधित्व संबंधी इन दो अधिकारों की मांग काफी समय से उठती रही है। पिछली सदी के सत्तर के दशक में जय प्रकाश नारायण के नेतृत्व में और इस दशक में अन्ना हजारे के नेतृत्व में खड़े हुए जन आंदोलनों ने इस मांग को पुरजोर तरीके से उठाया। भारतीय लोकतंत्र की चुनाव व्यवस्था की विकृतियों को दूर करने के लिए जब भी चुनाव सुधारों की चर्चा होती है, इनका जिक्र जरूर होता है। प्रतिनिधि वापसी का अधिकार कुछ प्रांतों में पंचायतों और नगरपालिकाओं में लागू किया गया है। इनकार के अधिकार पर हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय ने अपनी मुहर लगाई है और निर्देश दिए हैं कि वोटिंग मशीन में एक बटन सारे उम्मीदवारों को खारिज करने का भी हो।

यह एक स्वागत योग्य फैसला है और इससे मतदाता की ताकत बढ़ेगी। लेकिन इसके उत्साही समर्थक यदि यह उम्मीद लगा रहे हैं कि इससे भारतीय लोकतंत्र में कोई बड़ा बदलाव आने लगेगा, तो उन्हें निराशा हाथ लगेगी। दरअसल उन्हें भारत के चुनावों की जमीनी प्रक्रिया, परिस्थिति और मतदाता किस मनोदशा में वोट देते हैं, इसका ज्यादा अंदाज नहीं है।

यह सही है कि भारत के साधारण लोग मौजूदा पार्टियों से आजिज आ चुके हैं और उम्मीदवारों से ज्यादा उम्मीद उन्हें नहीं होती है। इसलिए एक हिस्सा वोट देने नहीं जाता है। बड़ा हिस्सा वोट देने जाता है और मतदान के दिन तक उसके ऊपर जो भी दबाव आते हैं, उसके हिसाब से वोट डाल देता है। यह दबाव बाहुबल का, बड़े लोगों का, सेठों व साहूकारों का, लालच का, जाति और धर्म की भावनाओं का आदि विविध किस्म का होता है। ज्यादा कष्ट में होने पर वह सत्तादल या सत्तासीन प्रतिनिधि के खिलाफ वोट करता है। यदि कोई अच्छा, प्रभावी और दमदार विकल्प मिलता है तो सत्तासीनों के खिलाफ वोट का अनुपात बढ़ जाता है।

दिवक्कत यह है कि खारिज का मताधिकार मिलने से इन परिस्थितियों में कोई खास बदलाव नहीं आता है।

लोग उसी तरह तमाम दबावों में वोट डालते रहेंगे। असली चुनौती इन दबावों को दूर करने और राजनीति में विकल्पहीनता को दूर करने की है।

अपने कष्टों या राजनैतिक गिरावट से आजिज आए लोगों द्वारा चुनाव के बहिष्कार की अपील कई बार की जाती है। लेकिन इक्का-दुक्का गांवों या मुहल्लों को छोड़कर ज्यादातर ये बहिष्कार सफल नहीं हो पाते हैं। ज्यादातर लोग वोट बहिष्कार को अपनी मांग मनवाने के लिए एक धमकी के तौर पर ही इस्तेमाल करते हैं और वोट का दिन नजदीक आते-आते बहिष्कार खतम हो जाता है। नक्सलियों द्वारा किए गए चुनाव बहिष्कार भी बहुत कम उतने ही सफल हुए हैं, जहां तक उनकी बंदूकों का डर रहता है। चुनाव बहिष्कार के अभियानों को जितनी सफलता अभी तक मिली है और वे लोकतंत्र पर जितना असर डाल पाए हैं, उससे ज्यादा प्रभाव खारिज का मताधिकार नहीं डालने वाला है। कुछ प्रबुद्ध नागरिकों को छोड़कर ज्यादा लोग इसका इस्तेमाल नहीं करने वाले हैं, प्रतिशत एक-दो-तीन से ज्यादा नहीं होगा।

किसी चुनाव क्षेत्र में यदि लोग ज्यादा तंग आ चुके होते हैं और उनकी आपस में सलाह हो जाती है, तो वे अपने एक उम्मीदवार को खड़ा करने की पहल करते हैं। तब उन्हें किसी उम्मीदवार को वोट न देने के बजाय अपना उम्मीदवार खड़ा करके उसे जिताने की संभावना आकर्षक लगने लगती है। मध्यप्रदेश में कटनी जैसे उदाहरण हैं जहां मतदाताओं ने अपना आक्रोश एक किन्नर शबनम मौसी को खड़ा करके और विधानसभा में भेजकर प्रकट किया था। कई नगरपालिकाओं में भी ऐसा हुआ है। यानी मतदाता की उदासीनता कम होती है तो वे तुरंत विकल्प की दिशा में कोशिश करने लगते हैं। यह भारतीय लोकतंत्र की एक अच्छी बात है, उसकी ताकत है।

भारत की चुनाव व्यवस्था कई विकृतियों से युक्त हो चुकी है। चुनाव सुधार जरूरी है, लेकिन जरूरत ज्यादा बुनियादी स्तर पर जाकर लोकतांत्रिक सुधार करने की है। भारत के लोकतांत्रिक ढांचे को क्रांतिकारी ढंग से विकेंद्रित करके चुनाव क्षेत्र छोटे बनेंगे तो धनबल, बाहुबल और

जाति-धर्म अपीलों की कम चलेगी और मतदाताओं की असहायता कम होगी। मतदाता पहल कर सकेंगे। दिए गए विकल्पों में से चुनने के बजाय अपने विकल्प खड़े करने का आत्मविश्वास उनमें आएगा। अफसोस की बात है कि इस जरूरी व बुनियादी लोकतांत्रिक ढांचे के सुधार पर ज्यादा ध्यान नहीं जाता।

विकल्पहीनता को दूर करने के लिए वोटिंग मशीन के बटन से ज्यादा जरूरत इस बात की भी है कि भारतीय राजनीति में परिवर्तनकामी ताकतें गोलबंद हों तथा विचार और सिद्धांत पर आधारित दल बनाएं। निर्दलीयता या राजनीति से दूर रहने की मध्यमवर्गीय प्रवृत्ति एक तरह से असली चुनौती से भागने जैसी है।

हाथी के दांत

नए भू अधिग्रहण कानून का दायरा बहुत सीमित रखा गया है

भारत सरकार के ग्रामीण विकास मंत्री जयराम रमेश पूरे देश में यह कहते घूम रहे हैं कि अब माओवाद की समस्या खतम हो जाएगी। कारण यह है कि 119 साल पुराने भूमि अधिग्रहण कानून की जगह नया 'भूमि अधिग्रहण पुनर्वास और पुनर्व्यवस्थापन कानून' पास हो गया है। इसे वे एक ऐतिहासिक कदम बता रहे हैं। उनका कहना है कि अब देश में जबरिया भूमि अधिग्रहण नहीं होगा।

जयराम रमेश एक मायने में सही हैं और एक मायने में गलत हैं। देश में माओवाद और उग्रवाद की समस्या का एक कारण बड़े पैमाने पर जल-जंगल-जमीन से लोगों की बेदखली है, यह सही है। लेकिन इस कानून से यह समस्या हल हो जाएगी, इसकी उम्मीद नहीं दिखाई देती। याने रोग की पहचान कुछ हद तक सही है, लेकिन इलाज अधूरा व नाकाफी है, कुछ हद तक भ्रामक भी है।

भूमि अधिग्रहण के जिस नए कानून की तारीफ हो रही है और जिसे एक ऐतिहासिक उपलब्धि बताई जा रही है, उसकी बारीकी और ब्यौरे में जाने से कई पोलें व चालाकियां नजर आ रही हैं। कई आंदोलनों के बाद बने इस कानून में कुछ अच्छी व सकारात्मक बातें हैं जैसे 80 फीसदी प्रभावितों की मंजूरी की शर्त, ग्रामीण इलाकों में प्रचलित दर से ढाई से चार गुना तक मुआवजा, सिंचित और बहु-फसली जमीन के अधिग्रहण को हतोत्साहित करना, जरूरत से ज्यादा भूमि के अधिग्रहण की मनाही आदि। लेकिन सवाल यह है कि ये नए प्रावधान इस देश में भूमि अधिग्रहण के कितने मामलों में लागू होंगे? इस सवाल का जवाब बहुत उत्साहजनक नहीं है।

एक तो यही हुआ कि मध्यप्रदेश के भाजपाई मुख्यमंत्री के कहने पर सुषमा स्वराज और अरुण जेटली

ने संसद में आखिरी समय में संशोधन पेश किए और केंद्र सरकार ने सहर्ष मंजूर कर लिए। इन संशोधनों से जो कुछ प्रावधान सिंचाई परियोजनाओं पर पहले लागू होने वाले थे (जैसे जमीन के बदले जमीन देने की अनिवार्यता या विस्थापितों को सिंचित क्षेत्र में कम से कम एक एकड़ देने का प्रावधान), उन्हें हटा दिया गया। सबसे ज्यादा और सबसे बड़ा विस्थापन सिंचाई के बड़े बांधों में ही होता है। इस वक्त मध्यप्रदेश में नर्मदा के बांधों और अन्य बांधों में देश के सबसे बड़े विस्थापन की प्रक्रिया चल रही है, संघर्ष और जल सत्याग्रह चल रहे हैं। ऐसे सारे लोगों को मिलने वाले फायदे अब बहुत कम हो गए। यानी केंद्र और प्रदेश सरकार, भाजपा व कांग्रेस, ने मिलकर विस्थापितों के साथ धोखा किया है।

इस कानून का दायरा भी बहुत छोटा रखा गया है। दरअसल देश में भूमि अधिग्रहण कई कानूनों के तहत होता है। जैसे खदानों, राजमार्गों, रेलवे आदि के लिए भूमि अधिग्रहण के लिए अलग-अलग कानून हैं। खदानों में भी कोयला खदानों के लिए भूमि अधिग्रहण का विशेष कानून है। नए कानून में ऐसी कोई धारा नहीं रखी गई है, जिससे वह इन सब कानूनों के ऊपर हो जाए और उसके प्रावधान सब जगह लागू हों। इस तरह भूमि अधिग्रहण (खदान) कानून 1885, कोयला क्षेत्र अधिग्रहण एवं विकास कानून 1957, दामोदर वेली कार्पोरेशन कानून 1948, राष्ट्रीय राजमार्ग कानून जैसे 13 कानून इस नए कानून के बाहर हैं। नए कानून की धारा 106(3) कहती है कि इस कानून के लागू होने के एक साल बाद इन 13 कानूनों में किए अधिग्रहण पर भी नए कानून के पुनर्वास के प्रावधान लागू करने की अनुमति सरकार दे सकती है (जरूरी नहीं है)

और उसके लिए भी संसद की स्वीकृति की जरूरत होगी। एक साल बाद क्यों? क्या इसलिए कि तब तक लोकसभा चुनाव हो चुके होंगे और सरकार पर दबाव खतम हो जाएगा? तब यह कभी नहीं होगा?

मिसाल के लिए झारखंड को लें। यह एक और प्रदेश है जहां बड़े पैमाने पर भूमि अधिग्रहण हो रहा है। इस वक्त झारखंड में करीब 20,000 एकड़ भूमि के अधिग्रहण की कार्रवाई चल रही है। इसमें 85 से 90 फीसदी अधिग्रहण नए कानून के दायरे के बाहर रहेगा। हजारीबाग जिले में कारेदारी नामक जगह पर राष्ट्रीय ताप विद्युत निगम (एनटीपीसी) द्वारा कोयला खदान के लिए 23 गांवों की जमीन ली जा रही है। भूमि अधिग्रहण के खिलाफ आंदोलन में 23 जुलाई को पुलिस की गोली से एक 30 वर्षीय किसान केशर महतो मारा गया। संसद में नए कानून पर चर्चा के दौरान 8 सितंबर को जयराम रमेश ने जबरन अधिग्रहण से उपजे संघर्षों का जिक्र करते हुए इस घटना का उदाहरण दिया था। विडंबना यह है कि

कारेदारी के इस भूमि अधिग्रहण पर भी नए कानून के प्रावधान लागू नहीं होंगे।

इसी तरह, देश में अब कई जगह कंपनियां स्वयं किसानों को लालच देकर, दबाव डालकर, दलालों के जरिये, सीधे किसानों से जमीन खरीद रही हैं। ऐसे तमाम मामलों में भी नए कानून से किसी तरह का फायदा या सुरक्षा किसानों को नहीं मिलेगी।

कुल मिलाकर इस कंपनीपरस्त सरकार ने यह इंतजाम कर लिया है कि लोगों को समझाने के लिए कई अन्य मामलों की तरह इस मामले में भी एक कानून बना दिया जाए और भूमि अधिग्रहण का काम भी न रुके, कथित विकास की गाड़ी भी चलती रहे। दरअसल, जब तक इस देश की सरकारों की कंपनी-परस्ती और विकास नीति नहीं बदलती, समस्या अपनी जगह कायम रहेगी। जयराम रमेश और उनकी सरकार के ऐसे शिगूफों से समस्याएं हल नहीं होने वाली हैं। यह भी कह सकते हैं कि हाथी के दांत दिखाने के और हैं (नया कानून) तथा खाने के और (पुराने कानून)।

ना सीखने का खतरनाक नतीजा

एक ही जगह, एक ही मौके पर बार-बार हादसे क्यों होते हैं

जिस रोज तूफान 'पायलिन' से मानव त्रासदी टालने में मिली सफलता पर देश में राहत की सांस ली गई, उसी दिन मध्य प्रदेश के दतिया जिले में रतनगढ़वाली माता मंदिर के पास हुए हादसे ने यह भ्रम तोड़ दिया कि अब अपना देश हादसों से सीखते हुए भविष्य में उन्हें रोकने में समर्थ हो गया है। ओड़िशा और आंध्र प्रदेश में तूफान से तबाही को टालने से जाहिर हुआ कि पूर्वानुमान और एहतियातन कदम उठा कर कैसे लोगों की जान बचाई जा सकती है। रतनगढ़वाली माता मंदिर के पास की दुर्घटना मिसाल है कि जब सबक नहीं सीखे जाते तो उनका कितना विनाशकारी परिणाम होता है।

इस मंदिर के पास 2006 में भी महानवमी के दिन हादसा हुआ था। तब वहां सिंध नदी का पानी अचानक बढ़ जाने से तकरीबन 100 लोग बह गए, जिनमें से 57 की मृत्यु हो गई थी। तब भी घटना की जांच के लिए सरकार ने आयोग बनाया। आयोग ने रिपोर्ट दी, लेकिन राज्य सरकार ने उसे विधानसभा में पेश करने तक की जरूरत नहीं समझी। तब भी दतिया के एसपी और कलेक्टर

सस्पेंड किए गए थे। लेकिन बाद में दोनों का निलंबन खत्म हुआ, उन्हें तरक्की मिल गई। जब सरकार का रवैया यह हो तो स्थानीय प्रशासन और पुलिस से क्या अपेक्षा हो सकती है? इसीलिए हालिया घटना के बाद मुख्यमंत्री शिवराजसिंह चौहान द्वारा घोषित न्यायिक जांच को लीपापोती की कोशिश के रूप में देखना अस्वाभाविक नहीं है।

असल में रतनगढ़वाली माता मंदिर की घटना हादसों से कुछ ना सीखने का जीता-जागता उदाहरण है। भीड़ की जगह अफवाह फैलना, पुलिस द्वारा खुद नियमों की अनदेखी (आरोप है कि मंदिर के पास पुल पर मोटर वाहन ले जाना मना था, लेकिन पुलिसकर्मी रिश्वत लेकर जाने दे रहे थे), और भीड़ का अनियंत्रित होना असामान्य बात नहीं है। चुनौती यह है कि इन बातों का अनुमान लगाते हुए उचित इंतजाम किए जाएं। यह तो निर्विवाद है कि प्रशासन ने 2006 की दुर्घटना से वाजिब सबक लिया होता, तो त्योहार का दिन शोक दिवस में तब्दील नहीं होता।

दरअसल, ऐसी लापरवाही सिर्फ दतिया प्रशासन ने ही नहीं दिखाई है। बल्कि ये हाल पूरे देश में है, जिसके परिणामस्वरूप हाल के वर्षों में धार्मिक अवसरों पर हादसों के जगह-जगह दोहराये जाने का एक सिलसिला बन गया है। प्रयाग में कुंभ, पटना में छठ, केरल में सबरीमाला मंदिर, राजस्थान में चामुंडादेवी मंदिर, हिमाचल प्रदेश के नैनादेवी मंदिर, महाराष्ट्र के मांथरदेवी मंदिर और नासिक कुंभ, और उत्तर प्रदेश में प्रतापगढ़ के राम जानकी मंदिर में ऐसी बड़ी त्रासदियां हुई हैं। इसके बावजूद समग्रता से सोचने और भीड़ प्रबंधन के कारगर तरीके अपनाने पर किसी का ध्यान नहीं है।

हकीकत तो यह है कि सरकारों के पास इसकी एक संपूर्ण सूची भी नहीं होगी कि देश में ऐसे कितने अवसर और स्थल हैं, जब लाखों की भीड़ इकट्ठी होती है। बहरहाल, अब वक्त आ गया है जब केंद्र पहल करे। उसे अविलंब राज्य सरकारों के सहयोग से ऐसे बड़े धार्मिक आयोजनों या अवसरों की सूची बनानी चाहिए जहां भारी

भीड़ जुटती है। फिर उन जगहों पर लोगों के आने-जाने और उनके ठहरने की समुचित योजना बनाकर उसे दोषमुक्त ढंग लागू किया जाना चाहिए। अगर जरूरी हो तो इसके लिए उसी तरह की एक विशेष एजेंसी बनाई जा सकती है, जैसी प्राकृतिक आपदाओं के समय राहत एवं बचाव कार्य के लिए बनाई गई है। फिर सबसे बड़ी बात यह है कि स्थानीय प्रशासनिक अधिकारियों की जवाबदेही तय हो। अगर यह संदेश साफ हो कि ऐसे हादसों को रोकना पुलिस एवं प्रशासन की जिम्मेदारी है और इसमें कोताही बरदाश्त नहीं होगी, तो श्रद्धालुओं/आमजन की सुरक्षा प्रभावी ढंग से सुनिश्चित की जा सकेगी।

ऐसे मौकों पर देश को यह भी विचार करना चाहिए कि मंदिरों और तीर्थों में बेतहाशा भीड़ क्यों बढ़ती जा रही है? क्या इसे खास तौर पर कुछ ताकतों द्वारा बढ़ावा दिया जा रहा है? क्या किसी संत या सुधारक को कबीर की तरह फिर से यह कहने की जरूरत नहीं है कि 'ना मैं देवल, ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में'?

क्या स्विस बैंकों की दीवारें टूटेगी

नया अंतरराष्ट्रीय समझौता मददगार होगा, लेकिन सवाल इच्छाशक्ति का भी है

दुनिया भर के दबावों के चलते आखिरकार स्विटजरलैंड सरकार अपने बदनाम बैंकों की गोपनीयता की अभेद्य दीवारों में दरवाजे खोलने के लिए सहमत हुई है। दुनिया के अमीर देशों के संगठन ओइसीडी(आर्थिक सहयोग और विकास के लिए संगठन) द्वारा तैयार किए गए 'कर मामलों में आपसी प्रशासनिक सहयोग का बहुपक्षीय समझौता' पर स्विटजरलैंड ने दस्तखत कर दिए हैं। दस्तखत करने वाला स्विटजरलैंड दुनिया का 58 वां देश है। इस समझौते में शामिल देश अपने नागरिकों द्वारा कर-चोरी के संदर्भ में दूसरे देशों के बैंकों में जमा धन की जानकारी मांग सकेंगे। भारत भी इस पर हस्ताक्षर करने वाले देशों में शामिल है। लेकिन पाकिस्तान ने हस्ताक्षर नहीं किए हैं।

स्विटजरलैंड और कर-चोरों के अड्डे माने जाने वाले कुछ अन्य छोटे देशों के बैंकों की गोपनीयता के खिलाफ पिछले कुछ वक्त से अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मुहिम चल रही है। संयुक्त राज्य अमरीका ने तो स्विटजरलैंड को हड़का कर अपने देश के नागरिकों के जमा धन की जानकारी हासिल की और कर-चोरी का सबूत पाए जाने

पर स्विस बैंकों पर तगड़ा जुरमाना भी लगाया। जर्मनी और फ्रांस ने भी ऐसी जानकारी हासिल की। विकीलीक्स ने भी कुछ जानकारियां उजागर की।

लेकिन बहुत कुछ संबंधित देश की सरकार की इच्छा और इच्छाशक्ति पर निर्भर करता है। मिसाल के लिए पाकिस्तान के पूर्व राष्ट्रपति आसिफ जरदारी का काफी धन स्विस बैंकों में है, यह आम जानकारी है। पाकिस्तान के सर्वोच्च न्यायालय ने इसकी जांच के आदेश दिए, बहुत कड़ा रुख अपनाया और यहां तक कि प्रधानमंत्री के खिलाफ न्यायालय की अवमानना की कारवाई भी की, लेकिन पाकिस्तान सरकार ने कुछ नहीं किया। वह यही कहती रही कि राष्ट्रपति को जांच के खिलाफ कानूनी सुरक्षा प्राप्त है। नवाज शरीफ की नई सरकार द्वारा इस मामले में कोई ठोस कारवाई करने की भी कोई खबर नहीं है। दरअसल सभी राजनैतिक दल इस मामले में कोई ठोस कारवाई करने से बचते हैं, क्योंकि उनके नेताओं का भी दो नंबरी धन इन बैंकों में जमा हो सकता है। अपने-अपने हमाम में सब नंगे हैं।

सुनहरे सपने का सच

दुनु राय

दिल्ली को एक विश्व स्तरीय शहर बनाने का सपना दिखाया गया था। उसी सपने की ओट में राष्ट्रमंडल खेलों के नाम पर खरबों रुपयों की लूट और घोटाले हुए। कर्जों के दम पर आई चमक-दमक में दिल्ली के साधारण मेहनतकश लोगों के हिस्से में वेदखली, कष्ट और नई मुसीबतें ही आई हैं।

दुनु राय विकास, तकनालाजी और इंसाफ के सवालियों पर लगातार अध्ययन करते रहे हैं। मध्यप्रदेश के अनूपपुर जिले में 'विदूषक कारखाने' से उन्होंने यह सफर शुरू किया और अब महानगरों में लोगों के सवालियों पर उनकी टीम काम कर रही है।

पता:

खतरा केंद्र, 92 एच, प्रताप मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली - 110067
फोन : 09910687627
 qudeeroy@gmail.com

देश की राजधानी दिल्ली में कई हुकूमतें आई और गई और किसी ने वैभव का प्रदर्शन किया तो किसी ने विनाश का। लेकिन शायद प्रजातांत्रिक भारत में पिछले दिनों की चुनी हुई सरकार से ज्यादा वैभवशाली और ज्यादा विनाशकारी शक्ति किसी ने दिखाई हो। एक तरफ "विश्व-स्तरीय" होने का स्वर्णिम सपना, और दूसरी तरफ तोड़-फोड़ और विध्वंस का तांडव।

विश्व-स्तरीय होने का मतलब शायद ही किसी आम इंसान को मालूम हो। इसका बयान पहली बार दिल्ली की महा-योजना में 2002 में आया था जब शहर के प्रबुद्ध कर्णधारों ने इसकी घोषणा की और साथ में कहा कि महानगर को पर्यटन और खेल-कूद के लिए सजाना होगा। उसके बाद जैसे-जैसे 2010 में आयोजित राष्ट्रमंडल खेलों की तारीख नजदीक आने लगी, वैसे ही "विश्व-स्तरीय" चीख-पुकार भी बढ़ती गई कि क्या दिल्ली तमाम विदेशी खिलाड़ियों और उनके शुभचिंतकों के आगमन के लिए तैयार है? पूरे दौर में मुख्यमंत्री और उनके अनुचर और खेल के विशेष आयोजक मुस्कुराते रहे लेकिन उस मुस्कान के पीछे क्या कटु सत्य था वह तो खेल के समापन के बाद ही पता चला।

खेल के 2 महीने पहले तक सरकारी आंकड़ों के मुताबिक 48 परियोजनाओं में से केवल 3 पूरी हुई थीं- जिसमें एक बिजली घर बन गया था, एक पुल को चौड़ा करने में सफलता मिली थी, और एक खेल परिसर के बाहर गाड़ियों की पार्किंग की जगह बन चुकी थी। बाकी सारे परिसर, घर और कमरे, मैदान, पानी-बिजली-सड़क-परिवहन की व्यवस्था,

सौंदर्यीकरण और सफाई - सब अपूर्ण थे। यही नहीं, जब भारत के प्रतिनिधियों ने खेलों के लिए अपना दावा अंतरराष्ट्रीय समिति के सामने रखा था उस समय बजट केवल 1,772 करोड़ रुपये था। कुछ दिनों बाद केन्द्रीय खेल मंत्री ने कहा कि बजट बढ़ कर 4,830 करोड़ हो गया है। फिर खेल के निदेशक ने बताया कि शायद 10,000 करोड़ रु. खर्च हो जाएं। लेकिन जले पर नमक छिड़कने का काम दिल्ली के वित्त मंत्री ने किया जब उन्होंने कहा कि व्यवस्था में ही सरकार ने 26,808 करोड़ रु. स्वाहा कर दिए हैं। लेकिन इसका भी पर्दाफाश तब हुआ जब पर्यटन मंत्रालय ने छाप दिया कि 87,500 करोड़ का अनुमानित खर्च होगा, और सभी आंकड़ों को जब जोड़ा गया तो पता चला कि 102,779 करोड़ की लूट मची हुई थी। इस लूट के एक छोटे अंश की सजा आज खेल के प्रमुख आयोजक कलमाड़ी और भनोत जेल में बैठे भुगत रहे हैं, लेकिन बड़े मगरमच्छ तो अभी भी मुस्कुरा रहे हैं।

इस रकम में से सबसे - ज्यादा हिस्सा बिजली के निर्माण में गया; उसके बाद दिल्ली के प्रसिद्ध मेट्रो और नए हवाई-अड्डे पर; फिर सड़कों और फ्लाई-ओवर की बारी आई; उसके बाद स्टेडियम और होटल पर; सबसे आखिर में नंबर था खिलाड़ियों का और उन मजदूरों का जिन्होंने सबसे अधिक मेहनत की। सवाल पैदा होता है कि इस प्रकार से शहर को चमकाने से नागरिकों को क्या मिला? जो 1,708 करोड़ रु. आय के रूप में आने वाले थे, वह अभी तक सरकारी तिजोरी में नहीं आए हैं। एम आर नामक कंपनी को 1,038

करोड़ के फ्लैट बनाने थे, उसको घाटा हो गया तो सरकार ने बिचारी को 700 करोड़ रु. का अनुदान दे दिया। दिल्ली सरकार के पास दलितों के लिए 744 करोड़ सुरक्षित था उसको भी खेल में खर्च कर दिया; किसानों के कोष में से 17,000 करोड़ का चूना लगा दिया है। बिजली की कीमत पांच गुना बढ़ गयी है; मेट्रो आज तक घाटे में जा रही है; नया हवाई-अड्डा बारिश में दो बार डूब चुका है; हर फ्लाई-ओवर के पास जल जमाव और गाड़ियों का जाम अक्सर दिखाई देता है; और स्टेडियम और होटल खाली पड़े हैं। शहर कितना कर्ज में डूबा है इसका अंदाज आज तक किसी ने नहीं किया है।

इस जगमगाहट की सबसे अधिक कीमत गरीबों ने अदा की है। सन 2000 के पहले करीब 1,000 मजदूर बस्तियां थीं जिसमें नगरपालिका के खाद्यान्न विभाग के अनुसार 4,78,175 घर (या परिवार) रहते थे, यानी कि करीब 25 लाख की आबादी थी जो 2,390 एकड़ जमीन पर बसी थी। 2013 में

केवल 685 बस्तियां बची थीं, जिनमें लगभग 3,50,000 परिवार थे, और कुल जमीन बस 1750 एकड़ थी। अर्थात् शहर ने गरीबों से 640 एकड़ जमीन छीन ली। इसके

ऐवज में 8 पुनर्वास बस्तियों में 1,127 एकड़ जमीन पर लगभग 90,000 प्लॉट काट के दिए गए। इसी से अंदाज लगाया जा सकता है कि करीब चालीस हजार परिवार विश्व-स्तरीय धूल में समा गए हैं। वे कहां गए हैं, उन पर क्या गुजरी होगी, कितनी जिंदगियां बर्बाद हो गईं - इस पर किसी भी बुद्धिजीवी या संपन्न वर्ग के संवेदनशील व्यक्ति ने आज तक शोध नहीं किया है।

हां, खेल के समय पर और उसके बाद भी, कुछ राजनैतिक दलों और समाजसेवी संस्थाओं ने इस सवाल को जरूर उठाया था कि सरकार की पुनर्वास नीति बहुत

कठोर है। इसलिए हाल ही में घोषणा हुई कि पुनर्वासित होने के लिए कट-ऑफ की तारीख 1998 से बढ़ा कर 2009 कर दी गई है। लेकिन आंकड़ों के इस खेल में गरीबों को कोई खास फायदा हुआ क्या? सरकारी विभाग की खुद की गिनती से पता चला है कि केवल 45 फीसदी परिवारों को ही पुनर्वासित किया जाएगा और वह भी 7 से 20 मंजिल की गगन-चुम्बी इमारतों में। जिसमें हर फ्लैट 3 लाख रु. से अधिक का होगा और हर परिवार को किशतों में यह पैसा लौटाना पड़ेगा, जिसके लिए बैंक से कर्ज लेना पड़ेगा। यदि कोई किशत समय से नहीं दे पाया तो फ्लैट की कुड़की हो जाएगी और जो पैसा पहले जमा भी किया होगा, वह भी गंवाना होगा। लेकिन शहर की रौनक जरूर बढ़ेगी!

दिल्ली का यह नजारा शायद कुछ अजीब दिखता हो। लेकिन अफसोस तो यह है कि आज हर शहर का उच्च वर्ग इस प्रकार के 'विश्व-स्तरीय' सपने देखने लगा है। चाहे

अगर कर्ज के आधार पर शहरों का विकास होना है, तो उस कर्ज को लौटाना भी पड़ेगा। कैसे? आखिर शहरों के पास कौन सी कीमती चीज है जो वे बेच सकते हैं? दो ही नजर आती हैं - जमीन और लोगों की जिंदगी।

वह मुंबई और कोलकाता जैसी महानगरियां हों, कोच्चि और कानपुर जैसे मझौले शहर या रीवा और रिवाड़ी जैसे कस्बाई नगर। हर एक की योजनाओं में लिखा होगा कि हमें कंप्यूटर, कंपनी, और कलरव की रोशनी में चमकना

है। ऐसा क्यों है कि सभी एक जैसे होना चाहते हैं? उसकी वजह है कि सभी योजनाकार एक जैसे हैं। जबसे जवाहरलाल नेहरू राष्ट्रीय शहरी नवनिर्माण मिशन ने 2005 में जन्म लिया तबसे यह तय है कि केंद्र सरकार प्रदेशों और नगरपालिकाओं को धन तब देगी जब वे अपने नगर को पूंजी लगाने वाली निजी कंपनियों के लिए उपयुक्त बनाएं। और इसके लिए नगर प्रशासन को सुधारना पड़ेगा ताकि पूंजी को आकर्षित कर सकें। जाहिर है कि ऐसे सुधरे शहर की योजना वही बना सकते हैं जो ऐसी कंपनियों को नजदीकी से जानते हों, उनके भगत हों।



धन और जन की होड़ में निश्चित है कि जन की हार होगी क्योंकि वैश्वीकरण के इस युग में शासन का बल धन की तरफ़दारी कर रहा है। यह विश्व स्तर पर हो रहा है। 1968 से लेकर आज तक जितने भी ओलंपिक खेल हुए हैं, उनमें से एक शहर को छोड़ कर बाकी सभी सालों तक कर्ज को चुकाते रहे हैं। किसी ने भी मुनाफ़ा नहीं कमाया, और हरेक ने निजी कंपनियों की जेबें भारी कीं। राष्ट्रमंडल खेलों का इतिहास भी कोई न्यारा नहीं है। पहले इसका नाम “साम्राज्य” खेल था। यानी कि हर धनवान देश दिखाना चाहता था कि बाकी विश्व को उसने कितना लूटा है। वही लूट की परंपरा अब बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथ में है। इसीलिए देखने को मिलता है कि मैदान में हर खिलाड़ी अब किसी बड़ी कंपनी के चिन्ह को अपने आस्तीन पर लगाए घूम रहा है। और टीवी के हर पल पर, सड़क के हर मोड़ पर, अखबारों के हर पन्ने पर, और वित्त मंत्रियों के हर शब्दजाल पर, उन्हीं के इशतहार झूमते रहते हैं।

अगर कर्ज के आधार पर शहरों का विकास होना है, तो उस कर्ज को लौटाना भी पड़ेगा। कैसे? आखिर शहरों के पास कौन सी कीमती चीज है जो वे बेच सकते हैं? दो ही नजर आती हैं – जमीन और लोगों की जिंदगी। दिल्ली जैसे शहर में करीब 25,000 एकड़ बड़े धनासेठ निकार्यों के हाथ बिक चुकी है। शहरी विकास मंत्रालय ने भी हाथ खड़े कर दिए हैं कि सरकार अब जमीन का अधिग्रहण नहीं कर सकेगी, सारा धंधा कंपनियां ही करेंगी। पानी, बिजली, सड़क, स्वास्थ्य, शिक्षा, व्यवसाय, आवास – सब कुछ की नीलामी हो रही है। जहां पहले सरकारी व्यवस्था सस्ते में सुविधा प्रदान करती थी, वहां अब निजी कंपनी करेगी – और इस ‘चुस्ती’ की बढ़ती हुई कीमत अदा करनी पड़ेगी आम ग्राहक को। महंगाई की मार से जूझता हुआ इंसान अब विभागों के चक्कर काट रहा है कि

उसे कोई पहचान-पत्र मिल जाए – कभी राशन दफ़्तर में, तो कभी परिवहन विभाग में, एक दिन चुनाव आयोग के सामने, दूसरे दिन ‘आधार’ प्राधिकरण के दरवाजे पर, बैंक में या थाने में – सबके सामने हाथ पसारे खड़ा है देश का वह मेहनतकश नागरिक, जिसको अगले दिनों के चुनावी चक्र में भ्रष्टाचार और भ्रामक वादों का रगड़ता हुआ पहिया और ज्यादा कुचलेगा।

क्या ऐसे हालात से कोई निजात है? शायद हां। क्योंकि हर छोटे-बड़े शहर में कुछ न कुछ विरोध के नारे गूंज रहे हैं। भुवनेश्वर में रेहड़ी खोखे वाले ने अपनी आवाज बुलंद की है तो लुधियाना में साईकिल रिक्शा वाले ने; गोरखपुर के घाट पर सब्जी बेचने वाली विद्रोह कर रही है तो उसकी पुकार हैदराबाद की नदी के तट पर बसी चौका बर्तन साफ करने वाली तक पहुंच रही है। उनकी प्रतिध्वनि दिल्ली में भी अक्सर सुनाई देती है क्योंकि लोग आशा करते हैं कि कहीं संसद के सामने अपनी बात कहेंगे तो सत्ता में बैठे ऊंचे आला अफसर और नेता के कानों में समायेगा। लेकिन जैसे दिल्ली की जनता को समझ में आ गया है, ऐतिहासिक जंतर मंतर (या राजघाट में गांधीजी की समाधि) के एक कोने में उपवास करने से जीवन की भूख नहीं मिटती।

सभी मेहनतकशों को साथ आना पड़ेगा, एक आवाज में बोलना पड़ेगा, अपने बीच में से ही अगुवाई करनी पड़ेगी, और जिंदगी को संवारना है, तभी शहर सुंदर होगा – यह सबक दिल्ली के यमुना पुश्ता से लेकर बवाना के पुनर्वास बस्ती तक सफर कर रहा है, उन विस्थापित परिवारों के कंधों पर जो दस साल से दर दर ठोकर खा रहे हैं कि कहीं तो एक आशियाना मिल जाए। जिसमें काम भी हो, धाम भी, खूबसूरत सुबह भी हो, शाम भी। वही असली विश्व-स्तरीय सुंदर दिल्ली होगी।



गलत विकास के भंवर में

सुनील

मध्यप्रदेश में खेती, रोजगार, जमीन, पानी, कुपोषण और शिक्षा का संकट बढ़ता जा रहा है। आज भी इसकी गिनती देश के सबसे खराब चार-पांच राज्यों में होती है। वह 'बीमारु' की श्रेणी से बाहर नहीं आ पाया है। असली बात यह है कि कांग्रेस और भाजपा दोनों सरकारें गलत विकास नीति को प्रदेश पर थोपती रही हैं।

पता:
ग्राम/पोस्ट केसला,
जिला होशंगाबाद
(म.प्र.)
461111
फोन: 09425040452
sjsunil
@gmail.com

'भारत एक अमीर देश है, जहां गरीब लोग रहते हैं' -

यह कहावत काफी दिनों से चली आ रही है। आधुनिक विकास की विडंबना को जाहिर करने वाली इस कहावत का मतलब है कि भारत में प्राकृतिक संसाधन तो भरपूर हैं, इसकी राष्ट्रीय आय और उसकी वृद्धि दर भी अच्छी दिखाई दे सकती है, किन्तु इसके ज्यादातर लोगों की हालत खराब और दयनीय बनी रहती है।

यह कहावत भारत के बीचोंबीच स्थित, 'हृदय प्रदेश' कहलाने वाले राज्य मध्यप्रदेश पर भी लागू होती है। खनिज, जंगल, वर्षा, नदियों, उर्वर मिट्टी, जैविक संपदा आदि के हिसाब से मध्यप्रदेश काफी संपन्न है। पिछले कुछ समय से इसकी वृद्धि दर भी काफी अच्छी और प्रभावशाली दिखाई दे रही है। किन्तु देश के सबसे गरीब और सबसे कुपोषित राज्यों में इसकी गिनती होती है और यह 'बीमारु' (बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, उत्तरप्रदेश - हिन्दी पट्टी के इन चार गरीब-पिछड़े राज्यों के लिए प्रचलित संक्षिप्त नाम) की श्रेणी से बाहर नहीं निकल पा रहा है। इस मायने में यह प्रदेश भारत का सच्चा प्रतिबिंब है।

पूँजीवादी विकास जिस तरह लगातार साम्राज्यवाद, औपनिवेशिक शोषण, आंतरिक उपनिवेश, प्राकृतिक संसाधनों की लूट और गैरबराबरी के दम पर पनपता है, उसका एक उदाहरण भारत है, तो दूसरी मिसाल मध्यप्रदेश है। यदि भारत नव-औपनिवेशिक व्यवस्था का एक मोहरा है, तो मध्यप्रदेश आंतरिक उपनिवेश का मॉडल है।

ऊंची वृद्धि दर का जश्न

जैसे भारत के स्तर पर राष्ट्रीय आय की ऊंची वृद्धि दर को लेकर कुछ साल पहले जश्न का माहौल था, हालांकि अब उसके लगातार गिरने से इस जश्न की हवा निकल गई है, वैसे ही मध्यप्रदेश सरकार के गलियारों में भी ऊंची वृद्धि दर को लेकर खुद अपनी पीठ थपथपाई जा रही है। पहले की कम या ऋणात्मक वृद्धि दर के बाद पिछले चार बरस से मध्यप्रदेश की वृद्धि अच्छी रही है और इनमें से तीन बरसों में तो यह दहाई अंकों में रही है (देखें तालिका-1)। मध्यप्रदेश मुख्यतः कृषि प्रधान राज्य है। कृषि क्षेत्र में वर्ष 2011-

तालिका 1: राष्ट्रीय आय/राज्य घरेलू उत्पाद की वृद्धि दरें (प्रतिशत में)

वर्ष	मध्यप्रदेश	भारत
2000-01	-6.9	4.35
2001-02	7.1	5.81
2002-03	-3.9	3.84
2003-04	11.4	8.52
2004-05	3.0	7.60
2005-06	5.3	9.49
2006-07	9.2	9.60
2007-08	4.6	9.30
2008-09	12.3	6.70
2009-10	10.5	8.40
2010-11	8.1	8.39
2011-12	11.98	6.88

स्रोत: योजना आयोग के आंकड़े।

12 में 18 फीसदी की प्रभावशाली वृद्धि को लेकर भी सरकार ने खुद को शाबासी दी है, हालांकि कृषि क्षेत्र में बहुत उतार-चढ़ाव होते हैं। सवाल यह है कि यह ऊंची वृद्धि दर कितने समय तक चल पाती है। उससे बड़ा सवाल यह है कि आंकड़ों के परे इस वृद्धि से लोगों की जिंदगी और उसकी गुणवत्ता में कितनी बेहतर आई है। वही विकास की असली कसौटी होगी और विकास नीति की सही परीक्षा होगी। अफसोस की बात है कि इस मोर्चे पर संकेत बहुत अच्छे नहीं दिखाई दे रहे हैं।

हाशिए पर जाती खेती

चूंकि मध्यप्रदेश एक कृषि प्रधान और गांव प्रधान प्रांत है, इसके गांवों और इसकी खेती की क्या स्थिति है, उससे बहुत कुछ इस प्रांत की हालत का फैसला होता है। इसके कुल रोजगार में खेती का हिस्सा 1980 में 76 फीसदी था, बीस साल बाद इसमें केवल 3 फीसदी की कमी हुई और 2001 में यह 73 फीसदी था। फिर श्रम विभाग के आंकड़ों के मुताबिक 2008 में यह वापस बढ़कर 76 फीसदी हो गया। दूसरी ओर प्रदेश की कुल सालाना आय/उत्पाद में खेती का हिस्सा लगातार घटता जा रहा है। 1994-95 में यह 43.19 था, 1999-2000 में 37.12 हो गया और 2005-06 में घटकर 32.09 रह गया। इसके क्या मायने हैं ? -

1) प्रदेश में खेती के अलावा दूसरे रोजगार का विकास नहीं हो पा रहा है। बल्कि गांवों के धंधों का विनाश होने से खेती पर निर्भर आबादी का प्रतिशत वापस बढ़ने लगा है। यह एक गंभीर स्थिति है।

2) खेती पर निर्भर मध्यप्रदेश की विशाल आबादी का प्रदेश की कुल आय में हिस्सा (भारत की ही तरह) कम होता जा रहा है, जो कृषि क्षेत्र के तुलनात्मक रूप से वंचित और शोषित होने का द्योतक है।

मध्यप्रदेश के वर्तमान मुख्यमंत्री एक किसान परिवार से हैं और वे स्वयं को किसान का बेटा कहते हैं। उनकी सरकार द्वारा खेती और किसानों के हित में उठाए गए कदमों व उपलब्धियों के बखान के लिए अखबारों में बड़े-बड़े विज्ञापन दिए जा रहे हैं और बड़े-बड़े होर्डिंगज लगाए जा रहे हैं। निश्चित ही उन्होंने कुछ कदम उठाए हैं, जैसे गेहूं के समर्थन मूल्य पर राज्य शासन की ओर से पहले 100रु. प्रति क्विंटल तथा बाद में 50रु. प्रति क्विंटल का बोनस देना या

कृषि कार्य हेतु सहकारी कर्जों की ब्याज दरों में अनुदान देना। किन्तु इन उपायों के बावजूद मध्यप्रदेश के किसान जबरदस्त संकट से गुजर रहे हैं और यह संकट दूर नहीं हो पा रहा है।

खुदकुशी की फसल

इस संकट की एक अभिव्यक्ति मध्यप्रदेश में बड़ी संख्या में किसानों की आत्महत्या में हो रही है। देश में लगातार जिन पांच राज्यों में सबसे ज्यादा संख्या में किसान आत्महत्या कर रहे हैं, उनमें मध्यप्रदेश एक है (तालिका-2)। अन्य चार राज्य हैं - महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक और छत्तीसगढ़। महाराष्ट्र और आंध्रप्रदेश की किसान आत्महत्याओं की चर्चा तो होती है, प्रधानमंत्री भी वहां गए हैं। किन्तु मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ के किसानों की आत्महत्याओं पर देश का ध्यान नहीं गया है। यह एक खामोशी भरा संकट है। गौरतलब है कि पिछले ग्यारह सालों में इन आत्महत्याओं में कोई उल्लेखनीय कमी नहीं हो पाई है। करीब चार किसान रोज प्रदेश के किसी-न-किसी कोने में आत्महत्या करते हैं। ये आत्महत्याएं प्रदेश के किसी एक हिस्से या पिछड़े-सूखाग्रस्त बुंदेलखंड तक सीमित नहीं हैं। रीवा, सतना, खंडवा, खरगोन, बड़वानी, इंदौर या होशंगाबाद जैसे अपेक्षाकृत उन्नत व संपन्न माने जाने वाली खेती के जिलों से भी किसानों की खुदकुशी की खबरें आ रही हैं।

तालिका 2: किसानों की आत्महत्याएं

वर्ष	मध्यप्रदेश	भारत
2001	1372	16415
2002	1340	17971
2003	1445	17164
2004	1638	18241
2005	1248	17131
2006	1375	17060
2007	1263	16632
2008	1379	16196
2009	1395	17368
2010	1237	15964
2011	1326	14027

स्त्रोत: राष्ट्रीय अपराध रिकार्ड ब्यूरो।

सोयाबीन का संकट

होशंगाबाद जिले का एक दृष्टांत किसानों के इस संकट को समझने में मदद कर सकता है। सोयाबीन की फसल खराब होने के बाद दो वर्ष पूर्व वहां 11 से 14 अक्टूबर 2011 के बीच तीन किसानों ने आत्महत्या की। यह वह जिला है, जहां तवा परियोजना से काफी बड़ी मात्रा में सिंचाई होती है और जहां सोयाबीन की खेती सबसे पहले शुरू हुई। खेती में नए बीजों, रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाओं और मशीनों का भरपूर उपयोग होता है। इस जिले को मध्यप्रदेश का पंजाब कहा जाता है। किन्तु यहां का खुशहाल माना जाने वाला किसान जबरदस्त मुसीबत में है। वह सोयाबीन से भी काफी परेशान हो गया है और इसका विकल्प खोज रहा है। लेकिन इतनी बुरी तरह फंस गया है कि इससे निकलना आसान नहीं है।

सोयाबीन की खेती मूलतः यूरोप में पशु-आहार की कमी को दूर करने के लिए शुरू करवाई गई। इसका सीधा उपभोग गांव के लोग नहीं कर सकते और इसकी पूरी फसल मंडियों और फिर कारखानों में ही जाती है। एक तरह से मध्यप्रदेश में खेती और गांव के स्वावलंबन को खतम करने और सुदूर विदेशों की मांग पर निर्भरता की दिशा में यह बड़ा कदम था।

शुरु में सोयाबीन की पैदावार काफी अच्छी होती थी और पहले दाम भी अच्छे मिल रहे थे इसलिए सोयाबीन की खेती फैलती गई। मध्यप्रदेश को सोयाबीन राज्य कहते हैं। (देश का 60 फीसदी सोयाबीन यहीं होता है।) अब महाराष्ट्र और राजस्थान में भी सोयाबीन की काफी खेती हो रही है। किन्तु कुछ साल बाद इसकी पैदावार गिरने लगती है। 1994 तक मध्यप्रदेश में सोयाबीन की प्रति हेक्टेयर उपज 18 क्विंटल पर पहुंच गई थी, जो उसके बाद से लगातार घटते हुए 2011-12 में 10.77 क्विंटल रह गई। 2011 की सोयाबीन फसल में भारत की पैदावार 11.55, महाराष्ट्र की 12.56, राजस्थान की 13.93, मध्यप्रदेश की 10.77 और होशंगाबाद जिले की मात्र 6.40 क्विंटल प्रति हेक्टेयर थी। दरअसल लगातार भारी रसायनों के साथ सोयाबीन की खेती होने पर जमीन खराब हो जाती है और कीट-प्रकोप बढ़ने लगता है। इसी बीच डंकल मसौदे पर दस्तखत होने तथा विश्व व्यापार संगठन बनने से देश में खाद्य तेलों का आयात खुला हो गया। पाम तेल और सोया तेल के आयात की बाढ़ ने देश में सोयाबीन

की कीमतों को बढ़ने नहीं दिया और गाहे-बगाहे गिरा भी दिया। जिस सोयाबीन को किसानों की समृद्धि का दूत माना जा रहा था, वह अब किसानों के गले की फांसी बन गया है।

जो कहानी सोयाबीन की है, वही कल बीटी कपास की होने वाली है। शुरु में इसमें फायदा दिखाई देने से मध्यप्रदेश के पश्चिम में निमाड़-मालवा के कपास के खेतों में, बाकी देश की तरह, बीटी बीज छ गया है। प्रदेश और केन्द्र दोनों सरकारों ने इसे और इसे लाने वाली कंपनियों को भरपूर मदद की है। मध्यप्रदेश की भाजपा सरकार ने वैसे तो जीन-मिश्रित बीजों का विरोध किया है, किन्तु यह विरोध अधूरा है क्योंकि बीटी-कपास को तो उसका प्रश्रय मिला है। सात साल पहले कई खेतों में बीटी-कपास की फसल सूखने की घटनाएं हुई थी और कुक्षी (जिला धार) की कृषि उपज मंडी में एक जनसुनवाई में किसानों की व्यथा और कंपनियों की लापरवाही खुलकर सामने आई थी। किन्तु सरकार ने कंपनियों पर कोई कार्रवाई नहीं की व किसानों को मुआवजा नहीं दिलाया। सोयाबीन और बीटी कपास में फर्क यह है कि इस बार मामला निजी बहुराष्ट्रीय कंपनियों का है, जिसमें किसान ज्यादा असहाय होंगे।

पानी का कुप्रबंध

एक और उदाहरण बासमती चावल की खेती का है, जिसे सोयाबीन व अन्य फसलों के विकल्प के रूप में पेश किया जा रहा है। इसकी खेती बढ़ रही है तथा 'दावत' जैसी कंपनियों ने इसका श्रेय लिया है। किन्तु यह निर्यात फसल है और अमीरों का खाद्य है, जिसे न पैदा करने वाला किसान खा पाता है और न स्थानीय लोग। फिर पिछले साल यूरोप-अमरीका में मंदी व मांग में कमी के कारण अचानक इसके दाम काफी गिर गए और किसानों को काफी नुकसान हुआ। तीसरी समस्या है कि इसमें काफी पानी व पूंजी की जरूरत होती है। जो किसान ढाई-तीन लाख रु की पूंजी लगाकर ट्यूबवेल खुदवा पाता है, वही इसकी खेती कर पाता है, इसलिए इसका विकल्प छोटे किसानों के लिए खुला नहीं है। विडंबना है कि होशंगाबाद जिले के तवा कमांड क्षेत्र में, जहां कई जगह जल-भराव और दलदल की समस्या है, किसान ट्यूबवेल खुदवाकर बासमती की खेती कर रहे हैं। नहरी सिंचाई क्षेत्र में ट्यूबवेल एक तरह से दुहराव है और संसाधनों की

बरबादी है। पंजाब में बासमती चावल की खेती ने कई तरह के संकट पैदा किए हैं और वहां इस पर गंभीरता से पुनर्विचार शुरू हुआ है। उससे कोई सबक न लेकर मध्यप्रदेश की खेती को भी उसी आत्मघाती दिशा में ले जाया जा रहा है।

मध्यप्रदेश की खेती और पेयजल के संकट का एक आयाम तेजी से घटता भूजल स्तर है। मालवा और निमाड़ में तो हालत बहुत चिंताजनक हो गई है। सन् 2004 में मध्यप्रदेश के 46 विकासखंडों में भूजल का अतिदोहन हो रहा था (यानी पुनर्भरण के करीब या उस से अधिक दोहन), 2009 में इन विकासखंडों की संख्या 123 हो गई। यानी हम ऐसी खेती कर रहे हैं और ऐसी तकनीक अपना रहे हैं कि हजारों-लाखों सालों का संचित भूजल भंडार खाली करते जा रहे हैं। कुल मिलाकर, कृषि विकास की योजना व रणनीति में गंभीर गड़बड़ी दिखाई देती है।

पेयजल का संकट भी मध्यप्रदेश में बढ़ता जा रहा है। डेढ़ वर्ष पहले उज्जैन में गर्मियों में यह नौबत आ गई थी कि छह दिन में एक बार पानी दिया जा रहा था। किन्तु जल-संचय, जल-संरक्षण और पानी की बरबादी व फिजूलखर्च की रोकथाम के उपाय करने के बजाय, महंगी और बड़ी योजनाओं पर जोर दिया जा रहा है। इन्दौर, भोपाल, देवास, उज्जैन, पिपरिया जैसे कई नगरों में काफी दूर नर्मदा से पानी लाने की योजनाएं बनाई जा रही हैं। कितने नगरों को नर्मदा का पानी दिया जाएगा और कब तक? किस कीमत पर? एक तरफ पानी का संकट है, दूसरी तरफ 24 घंटे पानी का लालच देकर जल-आपूर्ति का ठेका निजी कंपनियों को देने की तैयारी भी की जा रही है। खंडवा और शिवपुरी में निजी कंपनियों को ठेका दिया जा चुका है, जिसका काफी विरोध हो रहा है।

बड़े बांध घाटे का सौदा

आधुनिक विकास की विसंगति बड़े बांधों में भी दिखाई देती है। नेहरूजी की तरह मध्यप्रदेश की कांग्रेस-भाजपा सरकारों ने इन्हें 'आधुनिक भारत का मंदिर' मान लिया और विकास का सूत्रधार समझ लिया। किन्तु इनसे जितने फायदे दिखाए गए थे, उतने हुए नहीं। तवा बांध बने पैंतीस बरस हो गए, किन्तु जितनी जमीन की सिंचाई इसकी प्रोजेक्ट रिपोर्ट में बताई गई थी, उसके 60-65 फीसदी से ज्यादा सिंचाई कभी नहीं हो पाई। बरगी बांध बने बीस साल हो गए, किन्तु उसकी नहरें आज तक पूरी

नहीं हो पाई। किसी को उसकी परवाह भी नहीं है। बाणसागर परियोजना की नहरों का काम 1971 में शुरू हुआ और 10.6 करोड़ रु. की लागत से 1987 तक पूरा होना था। किन्तु मार्च 2010 तक 961 करोड़ रु. फूंक देने के बाद भी केवल 62 फीसदी नहरें बन पाई हैं। 'मध्यप्रदेश जल क्षेत्र पुनर्संरचना प्रोजेक्ट' नामक एक परियोजना 2004 में विश्व बैंक के कर्ज से शुरू हुई है। इसकी कुल लागत 1919 करोड़ रु. की है। यह 2011 तक पूरी होनी थी। किन्तु मार्च 2010 तक इसके कुल लक्ष्य का केवल 11 फीसदी सिंचाई ही हासिल हो पाई। कैंग की ताजा रपट ने मध्यप्रदेश जल संसाधन विभाग के कामों में काफी भ्रष्टाचार, अनियमितताएं और असफलताएं उजागर की हैं। बड़े बांधों से बाढ़-नियंत्रण होगा, यह भी एक दावा किया गया था। किन्तु यह दावा कितना गलत निकला, इसे नर्मदा में देखा जा सकता है। चार-पांच बांध (तवा, बारना, बरगी, इंदिरा सागर, सरदार सरोवर आदि) बन जाने के बाद भी नर्मदा में भीषण बाढ़ों का आना जारी है।

मध्यप्रदेश के संदर्भ में बड़े बांधों की एक खास अनुपयुक्तता है। देश के बीच का पहाड़ी-पठारी इलाका होने के कारण कई नदियां यहां से निकलती हैं और यहां का पानी लेकर पड़ोसी राज्यों में जाती है। इनमें नर्मदा, चंबल, सोन, ताप्ती, पेंच, वैनागंगा, बेतवा, केन, माही आदि प्रमुख हैं। इन पर बने, बन रहे या बनने वाले बांधों की साईंट, इस विशेष भौगोलिक परिस्थिति के कारण, दूसरे राज्यों की सीमा के पास है। इसके कारण डूब और विस्थापन मध्यप्रदेश के हिस्से में आता है और पानी-बिजली का ज्यादा फायदा पड़ोसी राज्यों को मिलता है। इसे इंदिरा सागर- सरदार सरोवर बांध (नर्मदा), गांधी सागर बांध (चंबल), तोतलाडोह बांध (पेंच), रिहंद, बाणसागर (सोन), बावनथड़ी बांध, ताप्ती पर प्रस्तावित बांध आदि में देखा जा सकता है। इस तरह बड़े बांध मध्यप्रदेश के लिए घाटे का सौदा हैं। अपने जल संसाधनों के समुचित उपयोग के लिए मध्यप्रदेश को छोटे-छोटे बांधों और जलग्रहण क्षेत्र विकास पर जोर देना था। किन्तु प्रदेश की सरकारें लकीर की फकीर बनी हुई उल्टी चाल चलती रही हैं।

इन विशाल बांधों में उजड़ने वाले प्रदेश के किसानों-गांववासियों के समुचित पुनर्वास की तरफ भी प्रदेश की सरकारों ने कोई ध्यान नहीं दिया। इसका एक ताजा उदाहरण है कि नर्मदा पर बन रहे ओंकारेश्वर और इंदिरासागर

बांधों के विस्थापितों को अपनी मांगों के लिए बढ़ते पानी में बैठकर या खड़े होकर बार-बार जल-सत्याग्रह करना पड़ रहा है।

इन अनुभवों से सबक लेने के बजाय नदी-जोड़ो योजनाएं बनाई जा रही हैं। नर्मदा का पानी क्षिप्रा में डालने की एक योजना का शिलान्यास कुछ माह पहले मुख्यमंत्री ने हेलीकॉप्टर से नर्मदा का पानी ले जाकर क्षिप्रा में डालने की नौटंकी के साथ किया। केन-बेतवा, पार्वती-कालीसिंध-चंबल जैसी नदी जोड़ो योजनाओं को भी जबरदस्ती थोपा जा रहा है। ये योजनाएं काफी महंगी, अव्यावहारिक और समस्यामूलक हैं। इनमें नदियों पर नए बांध बनाने पड़ेंगे या काफी बिजली से पानी पंप करना पड़ेगा। विस्थापन होगा। विभिन्न इलाकों में आपस में वैसे ही झगड़े होंगे, जैसे अभी कावेरी के पानी को लेकर कर्नाटक-तमिलनाडु में हो रहे हैं।

जमीन की बंदरबांट

मध्यप्रदेश एक तरह से विस्थापितों का प्रदेश बन गया है। बड़े बांधों के अलावा खदानों, कारखानों, प्लांटेशनों, राष्ट्रीय उद्यानों-अभयारण्यों, शहरी विकास परियोजनाओं और राजमार्गों से काफी बड़े पैमाने पर विस्थापन हो रहा है। बड़े पैमाने पर जमीन खेती व किसानों के हाथ से निकल रही है। या तो सरकार अधिग्रहण कर रही है या कंपनियां खुद संकटग्रस्त किसानों से जमीन खरीद रही हैं। पिछले दिनों मध्यप्रदेश सरकार ने बड़े पैमाने पर पड़त भूमि रतनजोत या अन्य प्लांटेशन के लिए कंपनियों को लीज पर देने की एक नीति बनाई और 25 लाख एकड़ भूमि उन्हें देने का लक्ष्य रखा। इसके लिए हदबंदी कानून में छूट दी गई और शुल्क बहुत मामूली रखा गया - पहले दो वर्ष निःशुल्क, फिर पांच वर्ष तक 200 रु प्रति एकड़, अगले पांच वर्ष तक 400 रु. एकड़ और अगले 20 वर्ष के लिए 600 रु. प्रति एकड़ की वार्षिक दर पर। जमीन की इस बंदरबांट का फायदा उठाने के लिए रातों-रात कई कंपनियां सामने आ गईं। फिर जिसे पड़त भूमि कहा जा रहा है, व्यवहार में उस पर भी कोई गरीब आदमी खेती करता है या गांव के मवेशी चरते हैं। इस तरह यह जमीन जैसे सीमित व दुर्लभ संसाधन का पुनर्बंटवारा है। प्रदेश के भूमिपुत्रों के हाथ से भूमि निकलकर पूंजीपतियों व कंपनियों के हाथ में जमीन जा रही है।

गौरतलब है कि गांव के किसान के हाथ से जमीन निकलने का मतलब बेरोजगारी और आर्थिक असुरक्षा है। इसीलिए भूमि-अधिग्रहण का विरोध बढ़ता जा रहा है। 2007 में रीवा जेपी सीमेंट फैक्टरी के बाहर गांववासियों पर गोली चली, क्योंकि 25 वर्ष बाद भी वायदे के मुताबिक रोजगार न मिलने और प्रदूषण के कारण वे धरना दे रहे थे। इसके अगले वर्ष सिंगरौली में एस्सार बिजली कारखाने की जगह पर बड़ा संघर्ष हुआ। इस वर्ष अनूपपुर में मोजर बेयर बिजली कारखाने का विरोध कर रहे किसानों पर लाठीचार्ज हुआ और लंबे समय तक उन्हें जेल में रखा गया। सिंगरौली, सीधी, कटनी, रीवा, सतना, शहडोल, उमरिया, मंडला आदि कई जिलों में खेती या जंगल की जमीन खदानों या कारखानों के लिए कंपनियों के हाथ में जाने से संकट पैदा हो रहे हैं। राष्ट्रीय उद्यान, अभयारण्य या टाईगर रिजर्व के नाम पर भी गांवों को उजाड़ा जा रहा है।

सरकारों का कंपनी प्रेम

किन्तु इससे बेखबर मध्यप्रदेश की सरकारें विकास के नाम पर ज्यादा से ज्यादा कंपनियों व उद्योगों को बुलाने के लिए बेचैन हैं। कई इन्वेस्टर मीट हो चुकी हैं। प्रदेश का हर मुख्यमंत्री कंपनियों को बुलाने के लिए दल-बल के साथ मुंबई-बंगलौर ही नहीं, अमरीका, यूरोप, चीन व जापान की यात्रा करता है। कंपनियों को बिक्री कर (वेट), प्रवेश शुल्क, स्टाम्प ड्यूटी आदि में छूट, सस्ती या निःशुल्क जमीन आदि का लालच दिया जाता है। प्रदेश का खनिज और पानी भी उन्हें उपहार में दिया जाता है। यह तय है कि कंपनी केन्द्रित इस विकास नीति से प्रदेश में संघर्ष, विस्थापन, बेरोजगारी और प्रदूषण में इजाफा होगा।

औद्योगिकरण की इस विकृत व अनुपयुक्त विकास नीति का अभी तक का अनुभव भी अच्छा नहीं है। उदाहरण के लिए मंडीदीप, पीलूखेड़ी और पीथमपुर का अनुभव लें। भोपाल और इंदौर के पास इन औद्योगिक क्षेत्रों को चालाकी से इस तरह बनाया गया है कि वे हों तो महानगर के पास, किन्तु पिछड़े जिलों में हों, ताकि पिछड़े जिलों में मिलने वाली रियायतें व अनुदान उद्योग लगाने वाली कंपनियों को दिया जा सके। इतने साल बाद नतीजा क्या हुआ ? मंडीदीप से रायसेन जिले का पिछड़ापन दूर नहीं हुआ, पीलूखेड़ी से राजगढ़ जिले की गरीबी दूर नहीं हुई और पीथमपुर ने इंदौर नगर का विकास किया, धार जिले के आदिवासियों का नहीं। इसी तरह भिलाई, बोकारो और

राउरकेला के पास के आदिवासी इलाकों को भी देखा जा सकता है। आधुनिक उद्योगों की प्रकृति ऐसी होती है कि वे गरीबी के सागर में, प्राकृतिक संसाधनों और श्रम का शोषण करते हुए, बहुत मामूली रोजगार पैदा करते हुए और उससे ज्यादा आजीविका नष्ट करते हुए, संपन्नता के टापू बनाते हैं। इनसे समग्र विकास और सम्यक विकास नहीं हो सकता। इसीलिए गांधी, लोहिया और जयप्रकाश ने इस औद्योगीकरण का विरोध करते हुए गांव-केन्द्रित औद्योगीकरण और स्थानीय संसाधनों पर आधारित विकास पर जोर दिया था। एक आदिवासी बहुल, पिछड़ा, प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर, कृषि प्रधान, गांव प्रधान राज्य होने के नाते मध्यप्रदेश के लिए यह और भी प्रासंगिक है।

इस अनुभव के बाद भी यदि मध्यप्रदेश और भारत की सरकारें उसी राह पर चल रही हैं तो या तो उनकी समझ में बुनियादी गड़बड़ी है या इस गलत विकास नीति में उनके निहित स्वार्थ हैं। (बड़ी परियोजनाएं बनाने और कंपनियों से गलबहियां करने में उन्हें भ्रष्टाचार के नए मौके मिलते हैं।) शायद दोनों हैं। नीति और नियत दोनों में खोट है।

मध्यप्रदेश के विकास की दिशा और स्वरूप को तय करने का काम पिछले दो दशकों से दो अंतरराष्ट्रीय संस्थाएं - एशियाई विकास बैंक और विश्व बैंक कर रही हैं। इनके कर्जों के साथ ही पानी, सिंचाई, सड़कों, शिक्षा, स्वास्थ्य, बिजली, जंगल आदि में क्या होगा, उसकी शर्तें और नीतियां भी आती हैं। एशियाई विकास बैंक के सुधारों के तहत ही प्रदेश सरकार के कई उपक्रमों को बंद किया गया है, कर्मचारियों की भारी छंटनी की गई है, निजीकरण को बढ़ावा दिया जा रहा है और बिजली-पानी-सड़कों के टोल टैक्स आदि की दरें बढ़ाई गई हैं। इस विदेशी हस्तक्षेप ने प्रदेश की जनता की आवाज को एकतरफा किया है और जनता के कष्ट बढ़ाए हैं।

मध्य में भी नहीं मध्यप्रदेश

जीडीपी, उसकी वृद्धि दर या प्रति व्यक्ति आय के आंकड़ें किसी मुल्क की हालत को सही बयां नहीं करते, यह अब अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी कबूल किया जाना लगा है। गरीबी, शिक्षा, स्वास्थ्य, पोषण, रोजगार आदि में क्या हो रहा है, यह देखना भी जरूरी है। एक वैकल्पिक पैमाने के रूप में मानव विकास सूचकांक भी बनाया गया है। मध्यप्रदेश इन कसौटियों पर कहां ठहरता है ? वह देश के मध्य में नहीं, सबसे नीचे है।

गरीबी - हालांकि गरीबी रेखा की प्रचलित परिभाषा गरीबों की संख्या को बहुत कम करके बताती है, फिर भी तेंदुलकर पद्धति से पता चलता है कि 2009-10 में मात्र दो राज्यों (बिहार और ओडिशा) में गरीब आबादी का अनुपात मध्यप्रदेश से ज्यादा था और एक (उत्तरप्रदेश) में मध्यप्रदेश के बराबर था। यानी प्रगति और विकास के दावों के बावजूद मध्यप्रदेश देश के सबसे ज्यादा गरीबी वाले सूबों में शुमार है। प्रदेश की 40 फीसदी से ज्यादा आबादी घोर विपन्नता में जी रही है।

तालिका 3: गरीबी रेखा के नीचे आबादी का प्रतिशत (तेंदुलकर पद्धति से)

वर्ष	मध्यप्रदेश	भारत
1993-94	44.6	45.3
2004-05	48.6	37.2
2009-10	40.5	32.2

स्त्रोत: मोटेक सिंह अहलूवालिया का पेपर

शिक्षा - मध्यप्रदेश में स्कूलों में बच्चों के नामांकन में तो काफी प्रगति दिखाई देती है और यह 95 फीसदी करीब हो गया है, हालांकि इसमें एक हिस्सा कागजी होगा। किन्तु अभी भी पढ़ाई को बीच में छोड़ने वाले बच्चों का प्रतिशत काफी ऊंचा है। 2007-08 में कक्षा 8 तक आते-आते 46.1 फीसदी बच्चे पढ़ाई छोड़ रहे थे। इसका मतलब है कि करीब आधे बच्चे कक्षा आठ तक भी शिक्षा हासिल नहीं कर रहे हैं।

किन्तु शिक्षा में सबसे बड़ी गिरावट इसकी गुणवत्ता में आई है। इसके लिए खुद सरकार की नीतियां और व्यवस्थाएं जिम्मेदार रही हैं। सरकारी शालाओं में पूर्णकालिक स्थायी शिक्षकों के कैडर को समाप्त करके कम वेतन पर पैरा शिक्षकों की व्यवस्था बनाने में मध्यप्रदेश देश का अग्रणी प्रांत है। आज यहां पैरा शिक्षकों की कई श्रेणियां हैं - अध्यापक, संविदा शिक्षक, गुरुजी, अतिथि शिक्षक आदि। प्रदेश की ज्यादातर प्राथमिक शालाएं एक, दो या तीन शिक्षकों के भरोसे चल रही हैं, यानी वहां एक कक्षा पर एक शिक्षक भी नहीं है।

इसी के समानांतर और इसी के कारण मध्यप्रदेश में निजी स्कूलों का पूरा बाजार विकसित हो गया है। बच्चों की शिक्षा में भेदभाव का एक नया तंत्र विकसित हुआ है, जिसमें आर्थिक हैसियत के मुताबिक बच्चों को

शिक्षा मिल रही है। ज्यादातर निजी स्कूल शिक्षा की घटिया दुकानें हैं, जिनकी फीस, शिक्षा की गुणवत्ता और शिक्षकों के शोषण पर सरकार या समाज का कोई नियंत्रण नहीं है। यही गिरावट उच्च शिक्षा में भी आई है। मध्यप्रदेश में उच्च शिक्षा पहले भी अच्छी हालत में नहीं थी, किन्तु अब और ज्यादा हालत बिगड़ी है। बहुत सारे बी.एड. कॉलेज खुल गए हैं, जो बिना पूरी फैकल्टी के चलते हैं और बिना हाजिरी के परीक्षा में बैठ लेते हैं। इंजीनियरिंग कॉलेजों की भी बाढ़ आई है, जिनके द्वारा विद्यार्थियों-पालकों के शोषण के किस्से सामने आते रहते हैं। शिक्षा में मुनाफाखोरी और भेदभाव एक विकृति है जो मध्यप्रदेश में खूब फल-फूल रही है।

कुपोषण में अटवल

कुपोषण - इस मामले में मध्यप्रदेश को देश में सबसे अटवल होने का श्रेय प्राप्त है यानी देश में सबसे ज्यादा कुपोषण लगातार इसी राज्य में है।

कुपोषण की जानकारी का सबसे प्रमुख स्रोत 'राष्ट्रीय परिवार एवं स्वास्थ्य सर्वेक्षण' है, जो 1992-93, 1998-99 और 2005-06 में हुआ था। पहले सर्वेक्षण में बाल कुपोषण की दृष्टि से सबसे खराब प्रांतों में मध्यप्रदेश सातवें नंबर पर था। दूसरे सर्वेक्षण में पहले नंबर पर पहुंच गया। छत्तीसगढ़ अलग होने के बाद उसकी स्थिति और खराब हुई तथा वह सबसे ज्यादा बाल कुपोषण वाले पद पर विराजमान है। वर्ष 1992-93 में मध्यप्रदेश में 3 वर्ष से छोटे 48.5 फीसदी बच्चे कुपोषित थे। इनकी संख्या कम होने के बजाय 1998-99 में बढ़कर 55.1 फीसदी हो गई। सात वर्ष बाद और बढ़कर 60.3 फीसदी हो गई। इस तरह जहां और राज्य कुपोषण कम कर रहे थे, मध्यप्रदेश में बढ़ रहा था।

शिशु मृत्यु दर (जन्म से एक वर्ष के अंदर मरने की दर) में भी यह प्रदेश अटवल है। 2011 के आंकड़ों के मुताबिक इस प्रांत में जन्म लेने वाले 1000 बच्चों में से 59 बच्चे अपना पहला जन्मदिन नहीं देख पाते हैं। मध्यप्रदेश की हालत अफ्रीका के बदनाम अकालग्रस्त देशों से भी बदतर है।

इसी तरह महिलाओं का कुपोषण और जननी मृत्यु दर (प्रसव के दौरान मरने की दर) भी मध्यप्रदेश में काफी ऊंची है। इसे कम करने के लिए जननी सुरक्षा योजना चलाई जा रही है, जिसमें जोर दिया जाता है कि सारे प्रसव अस्पताल

में ही हों। किन्तु इसकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि स्वास्थ्य एवं चिकित्सा का सरकारी तंत्र कितना चुस्त-दुरुस्त है। शिक्षा की तरह स्वास्थ्य में भी सरकारी अस्पतालों की बदहाली-बरबादी-उपेक्षा हुई है। और निजी डॉक्टरों और अस्पतालों के बाजार का तेजी से विकास हुआ है। ये दोनों प्रवृत्तियां परस्पर पूरक और एक दूसरे को पुष्ट करने वाली हैं। ऐसे वाक्ये भी सामने आए हैं, जब गरीब महिलाओं को अस्पतालों के बाहर सड़क पर, नाली के किनारे, बच्चों को जन्म देना पड़ा है।

सारी आबादी के लिए सरकारी स्वास्थ्य तंत्र को सुदृढ़ बनाने के बजाय गरीबों को 40 हजार रुपए तक के मुफ्त इलाज की 'दीनदयाल अंत्योदय उपचार योजना' जैसी योजनाएं चलाई गई हैं जो गरीबों का भी इलाज सुनिश्चित करने में असफल रही है। मध्यप्रदेश के स्वास्थ्य महकमे की बदहाली के ये हाल हैं कि बार-बार प्रदेश के स्वास्थ्य संचालकों (जैसे डॉ० योगीराज शर्मा) के यहां छापे पड़ते हैं और अकूत संपत्ति पाई जाती है। यानी स्वास्थ्य विभाग के घोटालों और भ्रष्टाचार में मध्यप्रदेश भी उत्तरप्रदेश से ज्यादा पीछे नहीं है।

भूख है तो सब्र कर

सार्वजनिक वितरण प्रणाली - राशन व्यवस्था में जो भ्रष्टाचार और कालाबाजारी है वह अपनी जगह है। किन्तु प्रदेश में भारी कुपोषण के बावजूद सरकार ने इतना भी सुनिश्चित करने की जरूरत नहीं समझी कि कम से कम गरीबी रेखा से नीचे के परिवारों को निर्धारित 35 किलो अनाज प्रतिमाह का आबंटन किया जाए। ज्यादातर जिलों में उन्हें 20 से 25 किलो अनाज ही दिया जाता है। इसका कारण यह बताया जाता है कि प्रदेश में बीपीएल कार्डों की संख्या गरीब परिवारों की उस संख्या से ज्यादा है जिसे केन्द्रीय योजना आयोग मान्यता देता है। इसलिए केन्द्र सरकार से प्राप्त सस्ते अनाज को ज्यादा परिवारों के बीच बांटा जाता है। किन्तु मध्यप्रदेश सरकार चाहे तो इस बढ़ी हुई संख्या को अपने खर्च पर सस्ता अनाज दे सकती है। कई राज्य सरकारों ने ऐसा किया है। प्रदेश के मुख्यमंत्री ने केन्द्र सरकार के दोषपूर्ण गरीबी रेखा निर्धारण पर शोर तो मचाया है। किन्तु उस अन्याय को अपने बजट से पूरा करने की जरूरत नहीं समझी।

इस तरह मध्यप्रदेश में गेहूं-चावल की पैदावार तो भरपूर हो रही है, किन्तु प्रदेश के गरीबों को उसका लाभ

नहीं मिल पा रहा। वह अनाज या तो प्रदेश से बाहर चला जाता है या गोदामों में सड़ जाता है।

सामाजिक सुरक्षा - प्रदेश के बेसहारा, बूढ़ों, विधवाओं और विकलांगों को दी जाने वाली मासिक सामाजिक सुरक्षा पेंशन की राशि 150 और 275 रुपए की हास्यापद व दयनीय दरों पर काफी समय से चली आ रही है। देश के अन्य राज्यों में यह राशि 400 से लेकर 1000 रु. तक है। विडंबना यह है कि प्रदेश के मंत्री और विधायक साल-दो साल में विधानसभा में सर्वसम्मति से प्रस्ताव पास करके अपने वेतन, भत्तों और पेंशन में काफी बढ़ोत्तरी कर लेते हैं। इससे ज्यादा राजनीति की निर्लज्जता और विद्रूपता का उदाहरण और कहां मिलेगा ?

विडंबना यह भी है कि सामाजिक सुरक्षा पेंशन की इस मामूली राशि को भी प्रदेश के घोटालेबाजों ने

नहीं छोड़ा है। इंदौर नगर निगम के जिस महापौर के कार्यकाल में सामाजिक सुरक्षा पेंशन में छत्तीस करोड़ रुपए का घोटाला हुआ, वे आज प्रदेश सरकार में दूसरे नंबर के सबसे ताकतवर मंत्री बनकर बैठे हैं। यह प्रदेश की राजनीति की घोर गिरावट को भी बताता है।

कुल मिलाकर, मध्यप्रदेश आंतरिक उपनिवेश पर आधारित गलत विकास नीति, गलत प्राथमिकताओं और पतनशील राजनीति का मारा एक बेचारा प्रदेश है। इसकी मुक्ति तभी हो सकती है, जब यह वैकल्पिक विकास की राह पर चलेगा। किन्तु इसके लिए प्रदेश के आम लोगों को आगे आकर संघर्ष करना होगा तथा प्रदेश की राजनीति को भी बदलना होगा जो कि भ्रष्ट नेताओं, भ्रष्ट अफसरों और पूंजीपतियों - दलालों की तिकड़ी तथा कांग्रेस - भाजपा की नूराकुशती में फंसी हुई है।

वार्ता यहां से प्राप्त करें

- सोमनाथ त्रिपाठी, अनुसंधान परिसर, संपूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी - 221002, फोन 09415222940
- विश्वनाथ बागी, पुटकी कोलियरी, पो. कुसुंडा, जिला धनबाद, झारखंड 828116, फोन 09835131638
- लिंगराज, समता भवन, बरगढ़, ओडिशा, 768028, फोन 09437056029
- जे. पी. सिंह, जेपी मेडिकल, बेलथरा रोड, जिला बलिया, उत्तरप्रदेश फोन 09454246891
- अच्युतानंद किशोर नवीन, सत्य साहित्य, कन्हौली, शारदानगर, पो. आर के आश्रम बेला, मुजफ्फरपुर, बिहार, 843116, फोन 09470268745
- नवल किशोर प्रसाद, एडवोकेट, छोटा बरियापुर, वार्ड नं 38, पो. सिविल कोर्ट, थाना छतौनी, मोतीहारी, बिहार 845401, फोन 08271829617
- चंद्र भूषण चौधरी, भारती अस्पताल, कोकर चौक, हजारीबाग रोड, रांची, झारखंड 834001, फोन 09006771916
- रामजनम, सर्वोदय साहित्य भंडार, प्लेटफार्म नं. 4, वाराणसी कैंट स्टेशन, वाराणसी 221002, फोन 08765619982
- अमरेंद्र श्रीवास्तव, पुरानी गुदड़ी, वार्ड नं. 9, थाना-नगर, पो. बेतिया, बिहार 845438, फोन 09031670370
- चंचल मुखर्जी, मुखर्जी बुक डिपो, पांडे हवेली, वाराणसी, फोन 0542-2454257
- शिवजी सिंह, अधिवक्ता, महददीगंज, बलुआ टोला, पो. सासाराम, जिला रोहतास, बिहार 821115, फोन 09431846052
- रमाकांत वर्मा, सेक्टर 3 डी, क्वा नं.589, बोकारो स्टील सिटी, झारखंड 827003
- अल्मोड़ा किताबघर, मित्रभवन, गांधी मार्ग, अल्मोड़ा, उत्तराखंड 263601 फोन 09412092061
- दिनेश शर्मा, डी 68, ए ब्लॉक, खूंटडीह, सोनानी, जमशेदपुर, झारखंड 831011, फोन 09431703559
- इकबाल अभिमन्यु, 28 पेरियार छात्रावास, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली 110067, फोन 09013183889
- मनोज वर्मा, इहमी कंपाउंड, पो.रामनगर, जिला पश्चिमी चंपारन, बिहार 845106
- राजेंद्र बिंदल, 252 ई, पाकेट डी, दिलशाद गार्डन, दिल्ली, 110095 फोन 09266955416
- रोशनार्ई प्रकाशन, 212 सी. एल/ए., अशोक मित्र रोड, कांचरापाड़ा, उत्तर 24 परगना, प.बंगाल, 743145 फोन 033-25850249
- गोपाल राठी, सांडिया रोड, पिपरिया, जिला होशंगाबाद, म.प्र. फोन 09425408801
- तपन भट्टाचार्य, 201, सुशीला कांप्लेक्स, 130, देवी अहिल्या मार्ग, इंदौर- 452003 फोन-09826011413

मीडिया और विकास

सच्चिदानंद सिन्हा

मीडिया का महत्व सत्ता के अनुचर के रूप में नहीं, आलोचक और सुधारक के रूप में है। अतीत में जोखिम उठाकर भी इस भूमिका का निर्वाह उसने किया है। जब विकास का मतलब जुल्म, लूट और छल-छद्म बन जाए, तब उसके कुरूप चेहरे को उजागर करना मीडिया का कर्तव्य बन जाता है।

बिहार केंद्रीय विश्वविद्यालय के पटना परिसर में 1 सितंबर 2013 को पढ़ा गया परचा।

सच्चिदानंद सिन्हा प्रख्यात समाजवादी चिंतक हैं।

पता:

ग्राम/पो.मनिका,
जिला मुजफ्फरपुर
(बिहार)

विकास का प्रारूप प्रस्तुत करने वाले लोगों की कल्पना भिन्न-भिन्न हो सकती है, विकास क्या होता है, इस संबंध में विभिन्न लोगों के विभिन्न विचार हो सकते हैं। विश्व बैंक, हमारे योजना आयोग या विभिन्न राजनीतिक दलों की विकास संबंधी धारणाएं भिन्न-भिन्न हो सकती हैं। विकास की कल्पना और धारणा सदा परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरती है। लेकिन एक आदर्श के रूप में इस संदर्भ में मीडिया की अपनी निर्धारित भूमिका है। इस रूप में मीडिया की भूमिका लोगों को जानकारी प्रदान करना और उनके हितों की रक्षा करना है। इस दृष्टि से मीडिया को विकास के मॉडल के पैरोकारों का अनुचर बन कर उनका प्रचार करने के बजाए एक मार्गदर्शक की भूमिका निबाहनी चाहिए।

मीडिया की भूमिका के बारे में यह सुझाव हमने इसलिए दिया है कि विकास की दिशा सदा सत्तारूढ़ राजनीतिक खिलाड़ियों द्वारा तय होती है और कभी-कभी उनके द्वारा निर्धारित दिशा के विनाशकारी परिणाम होते हैं। यहां हम सिर्फ दो उदाहरण देंगे। नेहरू के समय दूसरी पंचवर्षीय योजना की शुरुआत 'समाजवादी ढांचे के समाज' के नारे के साथ हुई थी। लेकिन इस योजना के फलस्वरूप देश में अनाज का संकट पैदा हो गया और देश को बड़े पैमाने पर अमरीका से पी.एल. 480 के तहत अनाज का आयात करना पड़ा। आज हम एक उन्मुक्त बाजार व्यवस्था में रह रहे हैं और चालू खाते में भारी घाटे और विदेशी मुद्रा के संकट का सामना कर रहे हैं। जब इस तरह के परस्पर विरोधी दबाव और उनकी खींच-तान, विकास के मॉडल को बचाने और मजबूती प्रदान करने की चेष्टा कर रही हों तब मीडिया का यह काम नहीं है कि

वह राजनीतिक सत्ताधारियों द्वारा निर्धारित विकास की नीतियों का अंध समर्थन करें। उसकी भूमिका निश्चित रूप से आलोचक और सुधारक की होनी चाहिए। दरअसल इतिहास में उसकी यही मूल भूमिका रही है, जिसका निर्वाह उसने भारी जोखिम उठा कर किया भी है।

मीडिया की भूमिका

इस संदर्भ में इतिहास की कुछ उन घटनाओं की ओर ध्यान दिलाना प्रासंगिक होगा जिनमें मीडिया ने भारी खतरा झेलते हुए भी अपनी भूमिका का शानदार निर्वाह किया।

अच्छाई और बुराई की दिशा में होने वाले सभी महत्वपूर्ण सामाजिक बदलावों में जनता की भागीदारी जरूरी होती है। जनता सदा भावनाओं को कारगर ढंग से अभिव्यक्त करने वाले लोगों के प्रभाव से गतिशील होती है। ये लोग उपलब्ध प्रचार माध्यमों का उपयोग करते हैं। छपाई के प्रारंभ के बाद अखबार जन-संचार के सबसे प्रमुख साधन बन गए और आज भी उनका स्थान सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, हालांकि हाल के दिनों में टीवी और इंटरनेट कुछ खास मामलों में कुछ अधिक कारगर साबित हो रहे हैं।

महात्मा गांधी में लोगों से संवाद करने और उनमें चेतना फैलाने की विलक्षण क्षमता थी। उन्होंने अफ्रीका में भारतीयों के अधिकारों और आत्मसम्मान की लड़ाई में अंगरेजी और गुजराती में "इंडियन ओपिनियन" नामक पत्रिका निकाली ताकि ज्यादा से ज्यादा भारतीयों तक अपनी बात पहुंचा सकें। यह पत्रिका वहां के भारतीयों तक आंदोलन के समाचार को पहुंचाने और उन्हें प्रेरित करने का मुख्य माध्यम बन गई। इसके बाद जब

महात्मा गांधी भारत आए तब उन्होंने अंगरेजी में “यंग इंडिया” और गुजराती में “नवजीवन” का प्रकाशन शुरू किया। इन पत्रिकाओं ने उनके संदेश को लोगों तक पहुंचाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। लेनिन ने भी अपनी पत्रिका “इस्करा” (चिनगारी) का सहारा लेकर रूसी जनता में क्रांतिकारी भावना प्रज्वलित करने की कोशिश की थी।

यह स्वाभाविक था कि सत्ताधारी लोग सदा ऐसे प्रकाशनों से खौफ खाएं और उन पर लगाम लगाने की कोशिश करें। नेपोलियन ने एक मौके पर कहा था कि “चार अखबार एक लाख सिपाहियों से भी ज्यादा लड़ाई के मैदान में नुकसान पहुंचा सकते हैं।” इसी तरह की धारणा दूसरे शासकों ने भी प्रकट की है। बीसवीं सदी के प्रारंभ में “युगांतर” नामक एक बंगला पत्रिका पर अंग्रेज सरकार ने प्रतिबंध लगाया था। इस प्रतिबंध के समर्थन में उस समय के इंग्लैंड की सरकार के भारत सचिव ने जो बयान दिया था, वह अखबारों की महत्ता का एक और उदाहरण है।

उनक बयान था : “एक आग सुलगाने वाला लेख खूनी वारदात का अभिन्न हिस्सा होता है। आप कलम और स्याही में वैसी ही पिक्करिक एसिड भर सकते हैं जैसी किसी इस्पात के बम में। इस

तरह के शरारत भरे लेख को लोगों के असंतोष और असहमति की अभिव्यक्ति बताना बात का बतंगड़ बनाना है।” अपनी इस तरह की धारणा के अनुरूप अंग्रेज शासक भारत के राष्ट्रवादी प्रेस पर लगातार हमला करते रहे। 1916 में प्रेस एक्ट के तहत भारत में निर्भीक पत्रकारिता के अग्रदूत गणेश शंकर विद्यार्थी के अखबार “प्रताप” पर बार-बार जुर्माना लगाया जाता रहा। बाद में उन्हें कई बार जेल भी जाना पड़ा। 1975 में तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने देश में आपातकाल की घोषणा द्वारा सेंसरशिप लागू कर पूरे प्रेस की स्वाधीनता का गला घोट दिया था।

लेकिन प्रेस पर इस तरह सीधा हमला करने से सरकारों को अकसर शर्मसार होना पड़ता है। इसलिए हाल के दिनों में प्रेस को कुचलने के बजाए उसे खरीदने की कोशिश होती है। बहुत ही चालाकी से चुपचाप प्रेस जनता के प्रहरी की भूमिका को तिलांजलि दे कर छल-छद्म के जाल में फंसता चला जाता है। यह छल-छद्म सभी प्रभुतासंपन्न संस्कृतियों का मूलाधार होता है। इस

छल-छद्म को राष्ट्र कल्याण और देश प्रेम के नाम पर महिमा मंडित किया जाता है। पेड न्यूज (पैसे लेकर छापे गए समाचार) और भारी भरकम विज्ञापनों ने प्रेस को प्रहरी की भूमिका से च्युत कर काफी संदिग्ध बना दिया है। उसकी संदिग्धता इतनी बढ़ गई है कि प्रेस परिषद के अध्यक्ष जस्टिस काटजू को प्रेस द्वारा अपनाए जाने वाले तरीकों की खुलकर आलोचना करनी पड़ी है।

हमारे समय में विकास का अर्थ आधुनिक औद्योगिक सभ्यता बन गया है, जिसके चमकते आचरण के पीछे जनता की त्रासद पीड़ा तथा आमजनों की दुर्दशा और उनके परिवेश के नष्ट होने की कथा छिपी है और यह एक अनवरत चलने वाली प्रक्रिया बन गई है। संयुक्त राज्य अमरीका समेत पश्चिमी देशों ने एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमरीका के लोगों पर वर्णनातीत जुल्म ढाकर अपने यहां आधुनिक औद्योगीकरण का विस्तार किया। आज भी ये अपने उद्योगों के विस्तार के लिए दुनिया के भू-भागों में अपना दायरा

अपने पेशे से प्रतिबद्धता और सत्य के प्रति निष्ठा का तकाजा है कि पत्रकार उन लोगों की व्यथा को उजागर करें, जिनके खून और आंसू हमारी सभ्यता और हमारे शहरों की चमक-दमक और उनकी चकाचौंध को सींचते हैं।

फैलाने और उनके प्राकृतिक साधनों के दोहन के लिए छोटे-बड़े युद्धों का सहारा लेने से बाज नहीं आते। यह एक गंदा खेल है जिसे छिपाने के लिए भारी आवरण की जरूरत पड़ती

है। ऐसे में मीडिया का यह कर्तव्य है कि वह विकास के इस कुरूप आवरण को बेनकाब करे, भले ही उसके लिए कितना ही खतरा क्यों न झेलना पड़े।

स्वाधीन प्रेस की मिसालें

प्रेस की स्वाधीनता को बचाने की एक रोमांचक घटना वियतनाम युद्ध के बाद हुई। अमरीका, फ्रांसीसी साम्राज्य की लड़खड़ाती शक्ति को बचाने के लिए वियतनाम युद्ध में शामिल हुआ था, हालांकि वियतनामी जनता ने अमरीका को पराजित किया, अमरीकी फौज ने वहां अकथ ज्यादातियां की थी। पेंटागन (अमरीकी सैन्य संस्थान) ने वियतनाम में जो भी घटित हुआ था उसका विस्तृत ब्यौरा तैयार करवाया था। लेकिन इसे पूरी तरह गोपनीय रखा। जून 1971 में न्यूयार्क टाइम्स ने किसी तरह इसे हासिल कर इसको प्रकाशित करना शुरू किया तो अमरीकी सरकार ने तुरंत प्रकाशन बंद कराने के लिए मुकदमा ठोंक दिया। यह बात दीगर है कि अमरीका के फेडरल कोर्ट ने सरकार की याचिका को खारिज

कर इस रोक के प्रयास को निष्फल कर दिया।

बीबीसी (ब्रिटिश ब्राडकास्टिंग कारपोरेशन) को भी, जो अपनी निष्पक्ष रिपोर्टिंग के लिए जाना जाता है ईराक युद्ध के संदर्भ में सरकारी दखलंदाजी का सामना करना पड़ा था। (खासकर ब्रिटिश प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर के उस बयान से उठे विवाद के बाद, जिसमें यह कहा गया था कि ईराक पैतालीस मिनट में पश्चिमी देशों पर हमला करने में सक्षम है) हम सब जानते हैं कि ईराक पश्चिमी देशों के लिए पेट्रोलियम की सप्लाई की व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण अंग है।

बड़ी शक्तियों की गोपनीय बातों को जनता के सामने लाने में निहित जोखिम का नवीनतम उदाहरण “विकीलिक्स” के मुख्य संपादक जुलियन असॉंगे का है, जिन्होंने दुनिया के बड़े नेताओं द्वारा किए गए गोपनीय सौदों का पर्दाफाश किया था। हाल की दूसरी घटना अमरीकी कंप्यूटर विशेषज्ञ और सीआईए के भूतपूर्व कर्मचारी स्नोडेन की है, जिन्होंने अमरीकी सरकार द्वारा नागरिकों के जीवन पर निगहबानी करने की खुफिया करतूतों का पर्दाफाश किया। अभी स्नोडेन रूस में पनाह लिए हुए हैं।

विकास के कुरुप चेहरे को उजागर करें

खदानों और विकास संबंधी परियोजनाओं के लिए हमारे देश में भारी संख्या में लोगों को उनके परिवेश से विस्थापित किया जा रहा है। इसमें सबसे ज्यादा बेबस आदिवासी लोग हैं जो दूर-दराज के पर्वतीय और जंगलों के इलाकों में रहते हैं। उनकी दुर्दशा और व्यथा के संबंध में कम ही जानकारी हो पाती है। शायद मीडिया ने आदिवासियों के विस्थापन को ही विकास का अपरिहार्य हिस्सा मान लिया है। इसका एक आंशिक कारण यह भी हो सकता है कि कुछ दूरदराज के इलाकों में पत्रकार दोहरे खतरे का निशाना बन जाते हैं। सरकारी तंत्र की निगाह में अगर उस इलाके में माओवादियों की उपस्थिति है तो वे माओवादी समर्थक मान लिए जाते हैं और प्रताड़ित किए जाते हैं। दूसरी ओर माओवादी उन्हें खुफियातंत्र का हिस्सा मान लेते हैं और उनकी हत्या तक कर सकते हैं।

सबसे बड़ी समस्या उस बुनियादी मूल्य बोध के बारे में गलतफहमी है। प्रारंभ में आम लोगों की तरह प्रेस का भी मार्गदर्शन सिद्धांत था- “उचित हो या अनुचित, हमारा राष्ट्र सही है।” इसे देशभक्ति माना जाता था। राष्ट्र की सेवा और हित में कुछ भी गलत-सही करना क्षम्य

माना जाता था। लेकिन वह सेवा क्या है और हित क्या है, यह कभी स्पष्ट नहीं था। अब आधुनिक विकास और नई प्रौद्योगिकी की चकाचौंध को देश की सेवा और हित के रूप में प्रचारित किया जाता है। मसलन, देश के एक छोर तक सड़कों का जाल बिछाने को एक पूर्व प्रधानमंत्री ने “स्वर्ण चतुर्भुज योजना” कहा था- गगनचुंबी इमारतें, मॉल और चमचमाती मोटर गाड़ियों की कतारें और (कहने की जरूरत नहीं) ट्राफिक जाम।

कुल मिलाकर, आधुनिक विकास दो विपरीत पर अनिवार्य रूप से एक दूसरे की पूरक स्थितियां पैदा करता है। यह उन्नीसवीं सदी के प्रसिद्ध लेखक ऑस्कर वाइल्ड के विख्यात उपन्यास “द पिक्चर ऑफ डोरियन ग्रे” की याद दिलाता है। इसका मुख्य पात्र युवा डोरियन ग्रे अपने भ्रष्ट आचरण और चारित्रिक पतन के बावजूद शिष्ट, सभ्य और सुंदर बना रहता है, लेकिन उसकी तस्वीर उसके नैतिक पतन का बोझ ढोते हुए अत्यंत कुरुप बन जाती है। इसी तरह वर्तमान नगरों के चमकदार चेहरे के पूरक होते हैं आदिवासियों के वीरान होते घर, उजड़ते वन प्रदेश एवं शहरी गंदी बस्तियां। अपने पेशे से प्रतिबद्धता और सत्य के प्रति निष्ठा का तकाजा है कि पत्रकार उन लोगों की व्यथा को उजागर करें, जिनके खून और आंसू हमारी सभ्यता और हमारे शहरों की चमक-दमक और उनकी चकाचौंध को सींचते हैं। मीडिया, विकास का एक वैकल्पिक मॉडल बनाने का दायित्व ग्रहण नहीं कर सकता लेकिन वह उन अतियों को तो उजागर कर ही सकता है जिनसे आम लोगों की जिंदगी तबाह होती है।

वर्तमान विकास की बुनियादी कमजाारियों को उजागर करते हुए यह भी कबूल करना होगा कि इसके कुछ सकारात्मक पहलू भी हैं- जैसे शिक्षा प्राप्त करने का अवसर, ज्यादा से ज्यादा लोगों तक चिकित्सा सुविधाओं को ले जाना और समानता की भूख जिसमें नर-नारी समानता शामिल है। इन सकारात्मक पहलुओं को मीडिया आधुनिक औद्योगिक समाज के व्यक्ति-केंद्रिकता, आत्म-केंद्रिकता, व्यावसायिकता और उपभोक्ता जैसे केंद्रीय और बुनियादी मूल्यों को अस्वीकार करते हुए अपनी सीमाओं के तहत बढ़ावा दे सकता है। आज मीडिया का पहले से कहीं अधिक विस्तार हुआ है और वह पहले से कहीं ज्यादा लोगों की पहुंच में है। अपने प्रसार और विस्तार के साथ मीडिया अपनी सीमाओं के तहत सभी मुनष्यों की मूल एकता के भाव को प्रोत्साहित कर सकता है।

बढ़ती कारें, बढ़ती समस्याएं

रामप्रताप गुप्ता

देश में बेतहाशा बढ़ती कारों की तादाद समस्याओं को जन्म दे रही है। दुनिया के कई महानगरों में कारों की संख्या को नियंत्रित करने के सफल प्रयास हुए हैं। भारत भी इनसे सीख सकता है। हमें कारों की जगह बस, मेट्रो जैसे सार्वजनिक वाहनों और साईकिलों को बढ़ावा देना चाहिए।

विगत वर्षों में नवउदारवादी आर्थिक नीतियों के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय आय में उच्च आय वर्ग एवं मध्यम आय वर्ग के लोगों का हिस्सा बढ़ता गया है, जिससे उनकी आय में तेजी से वृद्धि हुई है। आय वृद्धि के साथ मध्यमवर्गीय परिवारों में सुविधा के नए उपकरणों के साथ-साथ कारें भी खरीदने के प्रति आकर्षण बढ़ा है। मध्यम वर्ग के लोगों की एक बड़ी आकांक्षा रहती है कि उनके दरवाजे पर एक कार खड़ी हो जाए; क्योंकि कार का स्वामी बन जाना उनकी बेहतर हैसियत का प्रमाण होता है। वे जिनके पास कार हैं, कोशिश करते हैं कि बड़ी और मंहगी कार खरीदी जाए। वे जानते हैं कि जिसके दरवाजे पर जितनी मंहगी और बड़ी कार खड़ी होगी, उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी उसी के अनुरूप बेहतर होती जाएगी। धनिक वर्ग के लोग दूसरी, तीसरी कार खरीदते हैं। बढ़ती आय की तुलना में कारों की मांग और भी तेजी से बढ़ती है।

ऊर्जा एवं संसाधन संस्थान के अनुसार देश में प्रति व्यक्ति आय में एक प्रतिशत की वृद्धि होने पर कारों की मांग में 1.7 प्रतिशत की वृद्धि होती है। देश में कारों की मांग में तेजी से वृद्धि हुई है। सन् 1991 में देश में 2 लाख कारों का उत्पादन होता था, अब यह संख्या बढ़कर 30 लाख अर्थात् 15 गुना हो गई है। भले ही राष्ट्रीय शहरी परिवहन नीति में निजी वाहनों के स्थान पर सार्वजनिक परिवहन सुविधाओं और साईकिलों जैसे बिना मशीनी ऊर्जा के चलने वाले साधनों में वृद्धि की बात कही हो, परन्तु हमारी आर्थिक नीतियां तो कारों, जीपों, मोटरसाईकिलों आदि के उपयोग को प्रोत्साहन देने वाली हैं। इस समय कार

खरीदना आसान भी बना दिया गया है। बैंक और कार निर्माता कंपनियां आसान शर्तों पर कार प्रदान करने का ढिंढोरा पीटते ही रहती हैं। आज अकेली दिल्ली में ही प्रतिदिन 800 नई कारों का पंजीयन कराया जाता है, अर्थात् वहां ही 2.12 लाख कारें प्रतिवर्ष खरीदी जाती हैं। पिछला अनुभव बताता है कि वर्ष दर वर्ष देश में कारों की मांग बढ़ती जा रही है, 1951 से 2000 तक की 50 वर्षीय अवधि में देश में कारों की संख्या 70 लाख हुई। वहीं सन 2001 से 2011 की अवधि के 10 वर्षों में यह संख्या बढ़कर 85 लाख हो गई। अगर कारों की मांग में इसी प्रकार वृद्धि होती रही तो सन 2025 में भारतीय सड़कों पर 4.7 करोड़ कारें होंगी।

भारत में कारों की मांग में तेजी से वृद्धि की प्रवृत्ति ने विदेशी कार निर्माताओं के लिए एक स्वर्णिम अवसर प्रदान किया है। देश में बढ़ती मांग का लाभ उठाने में जापानी कार कंपनियां सबसे पहले आगे आईं। इस समय देश में सुजुकी, होण्डा, मित्सुबिशी, कावासाकी, टोयोटा, निशान आदि ने अपने कारखाने डाल दिए। फिर अमरीका-यूरोप की कंपनियां आईं। हमारा वाहन उद्योग इन्हीं के कब्जे में आ गया है। कार बनाने वाली भारतीय कंपनी केवल टाटा की ही है।

कारों की बढ़ती मांग और खपत को हमारा देश प्रगति का एक मापदंड मानकर गर्व कर सकता है, परन्तु कारों की बढ़ती मांग हमारी अर्थव्यवस्था को अनेक तरह से प्रतिकूल प्रभावित कर रही है। कारों की बढ़ती संख्या के साथ-साथ देश में पेट्रोल-डीजल की खपत भी बढ़ती जाती है, जिसका 85 प्रतिशत भाग

रामप्रताप गुप्ता
अर्थशास्त्र के
सेवानिवृत्त प्रोफेसर हैं।

पता:

3, राजस्व कालोनी,
उज्जैन(म.प्र.)

फोन : 0734-2530648

आयातित होता है। देश में पेट्रोल-डीजल की कुल खपत का 55 प्रतिशत भाग परिवहन क्षेत्र में प्रयुक्त होता है। सन् 2011 - 12 में हमने तेल के आयात पर 6.72 लाख करोड़ रूपए खर्च किए। यह राशि कुल आयात बिल के 40 प्रतिशत के बराबर थी। इन वर्षों में हमारा व्यापार घाटा बढ़ता ही जा रहा है, जिसके लिए तेल का बढ़ता आयात भी जिम्मेदार है। बढ़ती कारों हमारी ऊर्जा सुरक्षा पर प्रश्नचिन्ह लगाती जाती हैं। हमारी कारों का अधिकांश भाग शहरों में है। बढ़ती कारों के कारण शहरों में सड़कों पर जाम लग जाना इन दिनों सामान्य बात हो गई है। जाम के कारण कारें सड़कों पर रेंगती सी है। देश के 30 बड़े शहरों में कारों की औसत गति मात्र 22 कि.मी. ही है। धीमी गति बढ़ते जाम और थोड़े-थोड़े समय पश्चात इंतजार के कारण पेट्रोल-डीजल की खपत भी बढ़ती है।

देश में बढ़ती कारों और उनके द्वारा पेट्रोल-डीजल की खपत शहरों में पर्यावरण प्रदूषण की समस्या को बढ़ा रही है। शहरों में बढ़ती संख्या में कारें वायुमंडल में कार्बन डाई आक्साइड, मोनो आक्साइड छोड़ती हैं जो हृदय की बीमारी, अस्थमा सहित अन्य अनेक बीमारियों और पर्यावरण विकृतियों को जन्म देती हैं। हमारे देश में पेट्रोल की तुलना में डीजल की कीमत काफी कम रखी जाती है और डीजल गाड़ियां वायुमंडल में नाइट्रोजन आक्साइड छोड़ती हैं। कारों की बढ़ती संख्या के साथ सड़क दुर्घटनाओं की संख्या भी बढ़ती जा रही है। सरकारें करोड़ों रूपये की लागत से फ्लाई ओवर आदि बना रही हैं ताकि कारों के मार्ग में अवरोधों में कमी हो सके, उनकी गति में भी वृद्धि हो सके।

फिर कारों की बढ़ती संख्या के साथ सड़कों के चौड़ीकरण की आवश्यकता भी बढ़ती जाती है। दिल्ली में सन 2006-07 में परिवहन क्षेत्र के लिए बजट का 80 फीसदी भाग सड़कों को चौड़ा करने पर व्यय हुआ। कार यात्री समाज के प्रभावी वर्ग के लोग होते हैं और सड़कों के चौड़ीकरण की उनकी मांग की प्रक्रिया की मुख्य शिकार पूर्व में साइकिल यात्रियों व पैदल यात्रियों के लिए बनी सुविधाएं होती हैं, जबकि कुल सड़क का उपयोग करने वालों में पैदल व साइकिल यात्रियों का हिस्सा अलग-अलग शहरों में 40 से 50 फीसदी तक है। कुल मिलाकर, कारों की मांग और उत्पादन वृद्धि से मुख्य लाभ कार उद्योग स्वामियों को ही है। विदेशी कार कंपनियां कारों का उत्पादन कर भारी लाभ कमा रही हैं

और प्राप्त लाभ को देश के बाहर भेज रही हैं जो कि हमारे भुगतान संतुलन को और अधिक प्रतिकूल बना रहा है।

कारों में कमी कैसे हो

कारों की बढ़ती संख्या और परिणामस्वरूप उत्पन्न अनेक प्रतिकूल प्रभावों को देखते हुए दुनिया के कई देशों व नगरों ने अपने यहां कारों की संख्या को नियंत्रित करने के सफल प्रयास किए हैं। कोई कारण नहीं कि भारत इनके अनुभव का लाभ न लेवे। हम यहां कुछ राष्ट्रों के शहर में अथवा उनके भीड़भाड़ वाले इलाकों में कारों की संख्या में कमी लाने के प्रयासों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे।

लंदन - लंदन में 21 वर्ग कि.मी. के सर्वाधिक भीड़-भाड़ वाले इलाके में जाने के लिए कार स्वामियों को लंबी लाईन में खड़ा रह कर रेंगने की गति से आगे बढ़ना पड़ता था, इस वजह से उन्हें प्रति सप्ताह 20 से 40 लाख पौंड अर्थात कुल मिलाकर सभी कार स्वामियों को 16 से 32 करोड़ पौंड की हानि उठानी पड़ती थी। इस इलाके में कारों के प्रवेश करने पर सर्वप्रथम सन 1993 में प्रारंभ में 5 पौंड और बाद में 9 पौंड का (400 रू. और बाद में 720 रू.) के बराबर कर लगा दिया गया। अब लंदन इस इलाके में यात्रा की दूरी के आधार पर कर लगाने की सोच रहा है। इस कर के कारण भीड़भाड़ वाले इलाकों में कारों की संख्या काफी कम हो गई है।

स्टाकहोम- स्वीडन की राजधानी स्टाकहोम शहर के भीड़भाड़ वाले 34 वर्ग कि.मी. इलाके में निश्चित अवधि अर्थात सुबह 6.30 से लेकर शाम 6.30 बजे तक प्रवेश करने पर कार स्वामियों पर कर लगा दिया गया है। कर की मात्रा दिन के समय के अनुसार एक और दो यूरो और अधिकतम 6 यूरो निर्धारित की गई। बसों आदि को कर मुक्त रखा गया है। प्रारंभ में नागरिकों के द्वारा कारों का प्रतिरोध करने तथा गलियों आदि से निकलने की प्रक्रिया शुरू की गई, लेकिन बाद में वे इस व्यवस्था के अनुरूप ढालने का प्रयास करने लगे हैं।

बर्लिन - बर्लिन शहर की श्रेष्ठ सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था ने सड़कों पर कारों की संख्या को सीमित बनाया है। शहरी रेलों के विस्तार के साथ ही अब उनके कार्यस्थल स्टेशनों के नजदीक हो गए हैं। अब रेलवे स्टेशनों से लोग अपने कार्यस्थल तक पैदल जा सकते हैं। इसने साइकिलों

जैसे बिना मशीनी ऊर्जा के चलने वाले वाहनों के उपयोग को भी प्रोत्साहित किया है। शहर के घने क्षेत्र में केवल कम प्रदूषण फैलानी वाली कारों को ही प्रवेश दिया जाता है। यूरोप के अन्य शहरों में भी इसी दिशा में प्रयास किए गए हैं।

कोपनहेगन- हॉलैंड की राजधानी कोपनहेगन ने लक्ष्य निर्धारित किया था कि सन 2010 तक लोग अपनी यात्रा का 34 प्रतिशत भाग साईकिल के द्वारा करें, नहीं तो कारों की संख्या सन 1986 की तुलना में 72 प्रतिशत बढ़ जाएगी। वहां कार स्वामियों के अतिभीड़ वाले इलाके में जाने पर प्रति किलोमीटर राशि वसूलना शुरू कर दी है। नतीजतन, शहरों में भीड़भाड़ एवं बढ़ते प्रदूषण पर नियंत्रण लग गया। साईकिल यात्रा को प्रोत्साहित करने के लिए रेलवे स्टेशनों के बाहर साईकिल डिपो खोल दिए, जिनसे कोई भी यात्री अपने क्रेडिट कार्ड से साईकिल ले सकता है और अपने कार्यालय के पास के डिपो पर जमा कर सकता है, अगर साईकिल रखने की अवधि एक घंटे से कम है तो उससे कोई किराया नहीं लिया जाता है। साईकिल से और पैदल यात्रा को प्रोत्साहित करने के लिए सड़कों पर पैदल यात्रियों एवं साईकिल यात्रियों के लिए सुरक्षित मार्ग बनाए गए।

सिंगापुर- सिंगापुर एक टापू पर स्थित शहर राज्य है। इस नगर में कारों की संख्या में अनाप-शनाप वृद्धि करने की नीति के भारी विनाशकारी परिणाम होते। अतः सिंगापुर ने कार स्वामित्व को सीमित करने के प्रयास सन 1970 में ही शुरू कर दिए। सिंगापुर का भूमि परिवहन प्राधिकरण प्रतिवर्ष आयात की जाने वाली कारों की अधिकतम संख्या निर्धारित करता है। चूंकि कार चाहने वालों की संख्या अधिकतम निर्धारित संख्या से अधिक होती है, अतः कार कोटे को नीलाम कर दिया जाता है जिससे कारों का क्रय महंगा हो जाता है।

शंघाई - चीन के महानगर शंघाई में भी सिंगापुर की तरह हर माह विक्रय की जाने वाली कारों की संख्या पर नियंत्रण है। कारों का कोटा 7000-8000 के करीब निर्धारित किया जाता है और कार स्वामित्व को नीलाम कर दिया जाता है। कारों की नीलामी में कार क्रय करना अधिक महंगा हो जाता है। आज स्थिति यह है कि चीन के बीजिंग नगर में कार यात्रा को सुगम बनाने के लिए सिंगापुर की तुलना में अधिक फ्लाय ओवर, अधिक चौड़ी सड़कें, सड़क पार करने की भूमिगत व्यवस्था

आदि के बावजूद वहां अधिक दुर्घटनाएं होती हैं, और कारों की गति कम होती है।

क्या किया जाए

दुनिया के नगरों में कारों की संख्या को सीमित करने के सफल प्रयास हमारे लिए मार्गदर्शक हो सकते हैं। भारत में कालोनियों में, घरों में कार खड़ी करने का स्थान नहीं होने से कार मालिक अपनी कारें सड़कों पर खड़ी करते हैं और आवागमन में बाधक बनते हैं। अतः जो कार जितना अधिक स्थान घेरे, उस पर उतना ही अधिक कर लगाया जावे। हांगकांग में आवासीय इलाके में कार खड़ी करने पर 300 डालर प्रति माह कर देना पड़ता है। परंतु भारतीय शहर तो पार्किंग व्यवस्था में वृद्धि करने की दिशा में प्रयासरत रहते हैं। कारों को महंगा किया जाए जिससे लोग कार खरीदने के पूर्व दो बार सोचेंगे। बैंकों द्वारा कार क्रय करने हेतु ऋण पर ब्याज दरों में वृद्धि भी कारों की मांग को हतोत्साहित करेगी। प्रशासन को सार्वजनिक परिवहन व्यवस्थाओं को भी बढ़ाना होगा। परिवहन व्यवस्था की क्षमता में वृद्धि करने के लिए दो मंजिली बसें और तेज गति वाली बसें चलाई जाना चाहिए। साईकिलों के उपयोग को प्रोत्साहित करना होगा। इस हेतु सड़कों पर साईकिलों व पैदल यात्रियों के लिए अलग लेन बनाई जानी चाहिए ताकि लोग आसानी से और सुरक्षित यात्रा कर सकें। साईकिल उद्योग को करों में राहत दी जानी चाहिए ताकि उनका उत्पादन बढ़ सके। वर्तमान में साईकिलों का उत्पादन स्थिर और गिरता हुआ है।

साईकिल यात्रा के प्रोत्साहन से सड़कों पर भीड़भाड़ और प्रदूषण की समस्या से भी निजात पाने में मदद मिलेगी और चालक का स्वास्थ्य भी बेहतर होगा। सुप्रीम कोर्ट ने अपने एक निर्णय में कहा है कि कारों को सड़कों पर आधिपत्य स्थापित नहीं करने दिया जाना चाहिए। देश की 28.5 करोड़ की शहरी आबादी में से 10 करोड़ लोग गंदी बस्तियों और गरीब बस्तियों में रहते हैं, वे भी साईकिल यात्रा सुरक्षित बनाए जाने पर इससे या सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था से यात्रा करना चाहेंगे। यह उनके लिए अत्यंत सुविधाजनक होगा। कुल मिलाकर, सभी दृष्टियों से कारों की संख्या में वृद्धि पर अंकुश व्यापक राष्ट्रीय हितों के अनुकूल होगा।

दंगामुक्त भारत कैसे बने

असगर अली इंजीनियर

मुजफ्फरनगर के दंगों ने भारत के ऊपर सांप्रदायिक हिंसा के बादलों को फिर घना कर दिया है। भारत कब तक इस गंभीर समस्या से जूझता रहेगा? इसका स्थायी समाधान क्या है? दिवंगत असगर अली इंजीनियर ने इसके लिए बुनियादी स्तर पर जाकर पांच सूत्रीय कार्यक्रम सुझाया था।

असगर अली इंजीनियर समतावादी सुधारक थे, जिन्होंने आजीवन सांप्रदायिकता और कट्टरपंथ के खिलाफ संघर्ष किया था। उनका निधन 14 मई 2013 को हुआ।

अंगरेजी से अनुवाद अमरीश हरदेनिया ने किया है। इस लेख को हिंदी सेक्युलर पर्सपोटिव के फरवरी (प्रथम) 2013 के अंक से साभार लिया गया है।

हमारे देश में जहां एक ओर दक्षिणपंथी हिन्दुत्ववादी शक्तियों की गतिविधियों में तेजी से वृद्धि हो रही है वहीं दूसरी ओर सरकार लगभग लकवाग्रस्त है और इन शक्तियों के खिलाफ कोई निर्णायक कदम उठाने में असमर्थ प्रतीत हो रही है। ऐसी स्थिति में हम बिना किसी संदेह के यह कह सकते हैं कि भारत में सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक राजनीति का बोलबाला अभी बना रहेगा। भारत में सांप्रदायिक ताकतों की शक्ति में दिन व दिन वृद्धि हो रही है। गुजरात के भयावह दंगों के बाद सांप्रदायिक हिंसा में जो कमी परिलक्षित हो रही थी वह भी अब दिखलाई नहीं देती। सांप्रदायिक दंगे फिर से होने लगे हैं और इनका स्वरूप राष्ट्रव्यापी है। गुजरात के बाद असम में व्यापक सांप्रदायिक हिंसा हुई और एक के बाद एक हो रहे दंगों से ऐसा लग रहा है मानो स्थिति वही हो गई है जिसे सन 1980 के दशक में एम. जे. अकबर ने 'दंगे के बाद दंगा' निरूपित किया था।

मुझे धर्म निरपेक्ष ताकतों की प्रतिबद्धता पर तनिक भी संदेह नहीं है। सांप्रदायिक दंगे उनकी चिंता का विषय हैं परंतु दंगा खत्म होते ही उनकी चिंता भी मानो समाप्त हो जाती है। ऐसे रवैये से काम चलने वाला नहीं है। आरएसएस के कार्यकर्ता अपने काम को मिशन बतौर करते हैं और बारहों महीने तीसों दिन पूरे जोश-खरोश से अपने काम में जुटे रहते हैं। वे समाज में सांप्रदायिकता का जहर फैलाने में कोई कसर बाकी नहीं रखते। आरएसएस प्रचारकों की तुलना में धर्मनिरपेक्ष कार्यकर्ताओं की संख्या न केवल बहुत कम है, वरन् उनमें वह उत्साह और निष्ठा भी नहीं है, जो इतनी बड़ी लड़ाई के लिए जरूरी है।

जहां तक सरकारों का सवाल है— चाहे वे कांग्रेस की हों, मायावती की या मुलायम सिंह की— उनके बारे में कुछ कहना बेकार है। हां, वामपंथी सरकारों और पहले लालू प्रसाद यादव और अब नीतीश कुमार ने कुछ हद तक सांप्रदायिकता के दानव से निपटने में सफलता हासिल की है। भले ही लालू प्रसाद यादव और नीतीश कुमार अपनी राजनैतिक मजबूरियों के चलते, सांप्रदायिकता के खिलाफ लड़ रहे हैं परंतु वे इस मोर्चे पर पूरी निष्ठा से डटे हुए हैं और उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है। दोनों के बीच मुसलमानों के वोट हासिल करने की कड़ी होड़ है। जिस तरह बिहार और पश्चिम बंगाल लंबे समय तक दंगा-मुक्त रह सके हैं, उससे यह साफ है कि अगर सरकारें चाहे तो दंगे नहीं होंगे।

यद्यपि विचारधारा की दृष्टि से कांग्रेस धर्मनिरपेक्ष है तथापि उसकी नीतियों में हमेशा से एक दोगलापन रहा है और कांग्रेस-शासित राज्यों में सांप्रदायिक हिंसा पर पूरी तरह रोक लग सके, इसके लिए कांग्रेस सरकारों ने कभी गंभीरता से प्रयास नहीं किए। राम जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद विवाद में भी कांग्रेस का रवैया काफी ढुलमुल था। कांग्रेस ने बाबरी मस्जिद को ढह जाने दिया और देश को सांप्रदायिक हिंसा के दावानल में झोंक दिया।

हमारे देश के अधिकांश राजनेता सांप्रदायिक और जातिगत विभाजक रेखाओं को बनाए रखने तथा उन्हें गहरा करने में रुचि रखते हैं क्योंकि इससे उन्हें वोट मिलने की उम्मीद होती है। जैसे-जैसे आर्थिक समस्याएं बढ़ती जाएंगी और महंगाई डायन का मुंह बड़ा और बड़ा होता जाएगा वैसे-वैसे हमारे राजनीतिज्ञों के लिए पहचान की राजनीति की

उपयोगिता बढ़ती जाएगी क्योंकि पहचान की राजनीति के जरिए भावनाएं भड़काकर वे जनता का ध्यान आर्थिक समस्याएं सुलझाने में उनकी विफलता से हटा सकेंगे।

इस पृष्ठभूमि में सांप्रदायिकता की समस्या का क्या हाल हो सकता है? इसका कोई आसान हल नहीं है और न ही इसे रातों-रात सुलझाया जा सकता है। एक महत्वपूर्ण मुद्दा यह भी है कि यह समस्या के सुलझाव की किसी भी कोशिश में राजनीतिज्ञों की महत्वपूर्ण भूमिका होगी। प्रजातंत्र में हम राजनीतिज्ञों को दरकिनार नहीं कर सकते चाहे वे कितने ही अच्छे हों या कितने ही बुरे। प्रजातंत्र का कम से कम एक लाभ तो यह है कि सब नहीं तो कुछ राजनेता अल्पसंख्यकों के वोटों के लालच में सांप्रदायिकता के खिलाफ अभियान में भागीदारी करने के लिए तैयार हो सकते हैं। गहन सोच विचार के पश्चात मैंने सांप्रदायिकता की समस्या के स्थाई हल के लिए एक पांच सूत्रीय फार्मूला तैयार किया गया है। जाहिर है कि यह फार्मूला कोई जादू की छड़ी नहीं है और इससे अपेक्षित परिणाम तभी प्राप्त होंगे जब हम इस पर लंबे समय तक पूरी निष्ठा से अमल करेंगे।

पाठ्यक्रम में बदलाव

इस कार्यक्रम का पहला बिंदु है स्कूली पाठ्यक्रम में आमूलचूल परिवर्तन- विशेषकर उस

हिस्से में जिसका संबंध मध्यकालीन और आधुनिक इतिहास, स्वाधीनता संग्राम व देश के विभाजन से है। यह खेदजनक है कि आजादी के 65 साल बाद भी मध्यकालीन इतिहास को देखने-समझने के हमारे नजरिये में तनिक भी परिवर्तन नहीं आया है। हम आज भी मध्यकालीन इतिहास का घोर सरलीकरण कर रहे हैं और इसका ही नतीजा है कि मंदिर-मस्जिद जैसे व्यर्थ के विवादों को सुलझाने में हमारे देश की ऊर्जा खर्च हो रही है।

इतिहास की इसी तोड़ी-मरोड़ी गई समझ के कारण रामजन्मभूमि आंदोलन को अभूतपूर्व सफलता मिली थी। हमारा मध्यकालीन इतिहास कहता है कि महमूद गजनी और औरंगजेब ने सैकड़ों मंदिर ढहाए। परंतु वह हमारी साझी संस्कृति की चर्चा नहीं करता। वह उन सूफी संतों, लेखकों, कवियों और संगीतकारों के बारे में कुछ नहीं

बताता जिन्होंने दोनों समुदायों के बीच संवाद के सेतु निर्मित करने में अहम भूमिका निभाई। बाबा फरीद, मोइनुद्दीन चिश्ती, मियां मीर, निजामउद्दीन औलिया, मिर्जा जानेजांन, दाराशिकोह और अन्य अनेक संगीतकारों, वास्तुविदों, कवियों आदि की हमारा इतिहास चर्चा ही नहीं करता, जो दोनों समुदायों को नजदीक लाए और जिनके प्रयासों से ढेर सारी विविधताओं के बावजूद, भारत एक राष्ट्र बन सका है। इतिहास के विद्यार्थी इन लोगों के नाम तक नहीं जानते। यदि हमारी पाठ्यपुस्तकों में भारत की साझा संस्कृति और उसे मजबूत करने वाली शक्तियों व व्यक्तित्वों के बारे में जानकारी शामिल हो तो इससे बहुत लाभ होगा। हमारे विद्यार्थियों को यह अहसास होगा कि हमारी साझा संस्कृति कितनी समृद्ध है। उन्हें यह पता चलेगा कि दोनों समुदायों के बौद्धिक व धार्मिक नेता और कलाकार न केवल एक दूसरे के नजदीक थे वरन् उन्होंने हमारी मिली-जुली संस्कृति को धार्मिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक दृष्टि से कितना समृद्ध किया था।

हमारा मध्यकालीन इतिहास कहता है कि महमूद गजनी और औरंगजेब ने सैकड़ों मंदिर ढहाए। परंतु वह हमारी साझी संस्कृति की चर्चा नहीं करता। वह उन सूफी संतों, लेखकों, कवियों और संगीतकारों के बारे में कुछ नहीं बताता जिन्होंने दोनों समुदायों के बीच संवाद के सेतु निर्मित करने में अहम भूमिका निभाई।

दाराशिकोह ने एक पुस्तक लिखी थी जिसका शीर्षक था 'मजमा अल बहराईन' (दो महासागरों का मिलन)। इस पुस्तक में उन्होंने सफलतापूर्वक यह साबित किया था कि हिंदू धर्म और इस्लाम के बीच कोई शत्रुता या

वैमनस्य नहीं है बल्कि ये दोनों धर्म एक दूसरे के नजदीक हैं। इस तरह का साहित्य आज भी दोनों समुदायों के सदस्यों को एक-दूसरे के नजदीक लाने में मददगार सिद्ध हो सकता है। यह तथ्य कि हमारे पाठ्यक्रमों में इस तरह के व्यक्तित्वों और साहित्य को कोई महत्व नहीं दिया गया है स्पष्ट दर्शाता है कि हमारी रुचि एकता में कम है, विभाजन और वैमनस्य में ज्यादा। हमें राजनीतिज्ञों पर दबाव डालना चाहिए कि हमारे इतिहास के इस पक्ष को न केवल पाठ्यपुस्तकों में आवश्यक रूप से शामिल किया जाए वरन् उसे पर्याप्त महत्व भी दिया जाए।

इसी तरह, आधुनिक इतिहास व स्वाधीनता संग्राम का भी हमारी पाठ्यपुस्तकों में अत्यंत पूर्वाग्रहपूर्ण विवरण है। स्वाधीनता संग्राम में अल्पसंख्यक समुदाय की भूमिका को पर्याप्त महत्व नहीं दिया गया है। मौलाना महमूदउल

हसन, मौलाना हुसैन अहमद मदनी, मौलाना उबेदुल्ला सिंधी, मौलाना हिजरुलहमान जैसी शख्सियतों की चर्चा भी नहीं है। जिन्होंने स्वाधीनता संग्राम में बढ-चढकर हिस्सा लिया और जिन्हें अंग्रेज शासकों ने माल्टा, अंडमान निकोबार आदि में निर्वासित किया। इन्हीं में से कुछ ने 'रेशमी रूमाल षडयंत्र' में भाग लिया था जिसका उद्देश्य स्वतंत्रता के संदेश को देशभर में पहुंचाना था और जिसकी उन्हें भारी कीमत अदा करनी पड़ी थी।

हमारी पाठ्यपुस्तकों से यह भान भी होता है कि कुछ अपवादों को छोड़कर, सभी मुसलमान पाकिस्तान के पक्षधर थे जबकि सच इसके ठीक उलट है। अधिकांश मुसलमान देश के बंटवारे के खिलाफ थे और चाहते थे कि भारत एक बना रहे। आज भी मुसलमानों को देश के विभाजन के लिए दोषी ठहराया जाता है और दंगे भड़काने के लिए इस मुद्दे का इस्तेमाल होता है। यह राष्ट्रहित में होगा कि हम स्वाधीनता संग्राम और उसमें मुसलमानों की हिस्सेदारी की सही तस्वीर से हमारी नई पीढ़ी को परिचित करवाएं।

नैतिक शिक्षा

इस सिलसिले में दूसरा महत्वपूर्ण बिंदु है नैतिक शिक्षा। आज हमारी शिक्षा व्यवस्था का पूरा फोकस केवल और केवल कैरियर बनाने पर है। चरित्र निर्माण के लिए इसमें कोई जगह नहीं है। हमारी शिक्षा व्यवस्था विद्यार्थियों को ज्ञान और सूचना तो देती है परंतु नैतिक मूल्य नहीं। विद्यार्थियों को सचरित्र बनाना हमारी शिक्षा व्यवस्था की प्राथमिकताओं में कहीं नहीं है। मैं इसके कारणों पर यहां चर्चा नहीं करना चाहता परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि यह हमारे देश के लिए एक बहुत बड़ी त्रासदी है। इसके अतिरिक्त, हमारी शिक्षा प्रणाली जो बताया जा रहा है उस पर आंख मूंदकर विश्वास करना सिखाती है। हमारे विद्यार्थी सोचते नहीं हैं, केवल रटते हैं। उनके लिए शिक्षा केवल वह माध्यम है जिसके जरिये वे ऊंचे वेतन वाली नौकरियां हासिल कर भौतिक सुख-सुविधाओं से पूर्ण जीवन बिता सकें। हमारी शिक्षा व्यवस्था अल्पसंख्यकों, दलितों व आदिवासियों के प्रति पूर्वाग्रहस्त मस्तिष्कों का उत्पादन कर रही है। स्कूल या कॉलेज से निकलने वाले हमारे विद्यार्थियों का दिलोदिमाग स्वस्थ व

संतुलित नहीं होता। यदि हम अपनी शिक्षा प्रणाली में मूलभूत परिवर्तन ला सकें तो यह राष्ट्रहित में होगा। हमें ऐसे विद्यार्थी तैयार करने होंगे जिनके मन में विविधता के प्रति सम्मान हो और गरीब व कमजोरों के प्रति सहानुभूति व प्रेम दो। आज की शिक्षा व्यवस्था समस्या का भाग है। हमें उसे समाधान का हिस्सा बनाना होगा।

पुलिस सुधार

चूंकि हमारी पुलिस भी हमारे देश की समाज व्यवस्था का ही एक अंग है अतः पुलिसकर्मी भी कई तरह के पूर्वाग्रहों से ग्रस्त रहते हैं। वे अल्पसंख्यकों और समाज के अन्य कमजोर तबकों को जन्मजात अपराधी मानते हैं। हम तब तक देश में सांप्रदायिक हिंसा का अंत नहीं कर सकते जब तक कि पुलिस व्यवस्था में व्यापक सुधार न हों। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि दंगों को रोकने में पुलिस की अहम भूमिका होती है और पुलिस के सहयोग के बगैर दंगों के दोषियों को सजा दिलवाना असंभव है। हमारी पुलिस गहराई तक पूर्वाग्रहग्रस्त है। क्या हम लगभग हर दंगे के बाद यह नहीं सुनते कि पुलिस ने दंगों को रोकने की बजाए उन्हें और भड़काया?

मैंने सन 1961 के जबलपुर दंगों से लेकर 2002 के गुजरात दंगों तक हर बड़े दंगे का गहन अध्ययन किया है। मैंने पुलिसकर्मियों के लिए 150 से अधिक शांति व सद्भाव कार्यशालाओं का संचालन भी किया है। मेरा यह अनुभव है कि शिक्षा व्यवस्था की तरह, पुलिस व्यवस्था भी समाधान नहीं बल्कि समस्या का हिस्सा है। उत्तरप्रदेश काँडर के वरिष्ठ आईपीएस अधिकारी विभूति नारायण राय, जो वर्तमान में महात्मा गांधी हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के कुलपति हैं, ने 'सांप्रदायिक दंगों में पुलिस की भूमिका' विषय पर उन दिनों शोध किया था जब वे राष्ट्रीय पुलिस अकादमी, हैदराबाद के निदेशक थे। उनके शोध का निष्कर्ष यह था कि पुलिस का घोर सांप्रदायिकीकरण हो चुका है। उन्होंने इलाहाबाद के दंगों पर हिंदी में एक उपन्यास भी लिखा है जिसका शीर्षक है 'शहर में कर्फ्यू'। इस उपन्यास में उन्होंने इलाहाबाद में दंगों के दौरान पुलिस की भूमिका का चित्रण किया है और यह बताया है कि

किस तरह पुलिस, हिंदू दंगाईयों का साथ देती है।

मेरा प्रस्ताव है कि पुलिसकर्मियों के भर्ती पूर्व प्रशिक्षण में उन्हें धर्मनिरपेक्ष मूल्यों से परिचित कराया जाना चाहिए। जो पुलिसकर्मियों सेवारत हैं उनके लिए रिफ्रेशन कोर्स चलाए जा सकते हैं। मेरा अनुभव है कि इस तरह की कार्यशालाओं और पाठ्यक्रमों का पुलिसकर्मियों की मानसिकता पर गहरा असर पड़ता है। मैंने राष्ट्रीय पुलिस अकादमी और कई राज्यों की पुलिस अकादमियों में व्याख्यान दिए हैं और उनका चमत्कारिक परिणाम देखा है। अगर यह काम नियमित और आवश्यक रूप से किया जाएगा तो इसके बहुत अच्छे नतीजे निकलेंगे। हाल में महाराष्ट्र के धुले में दंगों के दौरान पुलिस ने, छह मुस्लिम युवकों को सीने व गर्दन पर गोली चलाकर मार डाला। यह पुलिस मैनुअल का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन था। परंतु सरकार ने संबंधित पुलिस अधिकारियों के खिलाफ कोई कार्यवाही नहीं की। उन्हें निर्लंबित तक नहीं किया गया।

सांप्रदायिक हिंसा निरोधक कानून

सांप्रदायिक हिंसा निरोधक विधेयक काफी वक्त से लंबित पड़ा है। अगर यह विधेयक कानून बन जाता है तो इससे सांप्रदायिक हिंसा रोकने में बहुत मदद मिलेगी क्योंकि यह कानून सांप्रदायिक हिंसा के लिए अधिकारियों की जिम्मेदारी तय करता है। इस बिल को धर्मनिरपेक्ष कार्यकर्ताओं ने बहुत सावधानी से तैयार कर सोनिया गांधी को सौंपा था। बिल पर राजनीतिक दलों की प्रतिक्रिया जानने के लिए सरकार ने राष्ट्रीय एकता परिषद की बैठक बुलाई। इस बैठक में अरूण जेटली और सुषमा स्वराज सहित भाजपा नेताओं ने विधेयक पर इतना तीखा हल्ला बोला कि सरकार घबरा गई और उसे इसे ठंडे बस्ते में डाल दिया। इस बिल को तुरंत पुनर्जीवित किया जाना चाहिए और अगर जरूरी हो तो कुछ संशोधनों के साथ, संसद से पारित करवाया जाना चाहिए। अगर इसके साथ-साथ पांचवें पुलिस आयोग की रपट को भी लागू कर दिया जाए तो सांप्रदायिक दंगों की समस्या से निपटने में हमें काफी हद तक कामयाबी मिल सकती है। इस बिल में सांप्रदायिक हिंसा के शिकार लोगों के लिए मुआवजे व नुकसान की भरपाई की व्यवस्था भी है।

मिश्रित आवास

हर दंगे के बाद, हिंदू और मुसलमान, मिश्रित

आबादी वाले क्षेत्रों को छोड़कर अपने-अपने मोहल्लों में रहने चले जाते हैं। यह प्रवृत्ति समाज के एकीकरण में बड़ी बाधा है। जिस शहर में अलग-अलग धर्मों के लोग अलग-अलग मोहल्लों में रहते हैं वहां सांप्रदायिक दुष्प्रचार और अफवाहें फैलाना आसान हो जाता है। सरकार को किसी भी ऐसी गृह निर्माण समिति को पंजीकृत नहीं करना चाहिए जिसमें हिंदू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, जैन व बौद्ध सदस्य न हों। हमारे देश में धर्म और जाति पर आधारित गृह निर्माण समितियां बहुत आम हैं। इसके विपरीत, सिंगापुर में ऐसा कानून है कि किसी गृह निर्माण समिति या अपार्टमेंट ब्लॉक को सरकार तब तक आवश्यक अनुमति नहीं देती जब तक उसमें सभी धार्मिक व नस्लीय समूहों का प्रतिनिधित्व न हो।

ये वे पांच सुझाव हैं जो अगर स्वीकार कर लिए जाते हैं तो हमारे समाज में शांति व सांप्रदायिक सद्भाव की स्थापना में काफी मदद मिलेगी। मैं जानता हूँ कि सरकारों को इन सुझावों पर अमल करने के लिए राजी करना बहुत आसान नहीं है क्योंकि इन पर अमल से निहित स्वार्थों को चोट पहुंचेगी, विशेषकर राजनैतिक स्वार्थों को। आज हमारे देश में चुनाव लोगों को विभाजित करके जीते जाते हैं, उन्हें एक करके नहीं। पहचान के मुद्दों की चुनावों में उन मसलों से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण भूमिका रहती है जिनका संबंध लोगों की मूल आवश्यकताओं की पूर्ति से है। फिर भी, मैं कम से कम यह अपेक्षा तो कर ही सकता हूँ कि इन मुद्दों पर चर्चा और बहस होगी।

वोटों की फसल

इस बार दंगा
बहुत बड़ा था
खूब हुई थी
खून की बारिश
अगले साल अच्छी होगी
फसल मतदान की
-गोरख पांडेय

तीव्र औद्योगीकरण सोने के अंडे वाली मुर्गी को काटने जैसा

नियमगिरि आंदोलन के नेता लिंगराज आजाद से बातचीत



ओड़िशा के कालाहांडी-रायगढ़ जिलों में नियमगिरि पर्वत में बाक्साइट खदान के वेदांत कंपनी के प्रोजेक्ट के बारे में सर्वोच्च न्यायालय के आदेश के तहत 12 ग्रामसभाएं हुईं। सभी ग्रामसभाओं में आदिवासियों ने एकमत से कंपनी के खिलाफ मत दिया। भारत ही नहीं, पूरी दुनिया की नजर इन ग्रामसभाओं पर थी। कंपनी राज की बढ़ती आंधी के रास्ते में यह एक छोटा-सा गतिरोधक है।

इस सफलता का महत्व कई कारणों से है। एक, इससे यह सिद्धांत स्थापित हुआ कि किसी परियोजना का फैसला वहां के लोग करेंगे। एक तरह का जनमत-

संग्रह था यह। इसके पहले भारत में ऐसा एकमात्र जनमत-संग्रह महाराष्ट्र के कोंकण क्षेत्र में रिलायंस के एसइजेड में हुआ था। वहां भी प्रभावित किसानों ने कंपनी के खिलाफ फैसला दिया था। दो, यहां तथा आसपास माओवादियों की भी उपस्थिति है, लेकिन पूरा आंदोलन लोकतांत्रिक तरीके से चला और जीत हासिल की। तीन, ओड़िशा के कई इलाकों में दलितों और आदिवासियों में काफी टकराव और कटुता रही है (मुख्य रूप से जमीन के सवाल पर)। लेकिन यहां आदिवासियों ने दलित कार्यकर्ताओं पर भी अपना भरोसा जाहिर किया।

इस आंदोलन के प्रमुख नेता लिंगराज आजाद कालाहांडी जिले के रहने वाले हैं और दलित पृष्ठभूमि से हैं। 50 वर्षीय आजाद पिछले 30 बरस से समता संगठन और समाजवादी जन परिषद के पूर्णकालिक कार्यकर्ता रहे हैं। नियमगिरि आंदोलन में तीन बार उन पर हमले हुए। कई बार जेल गए। ग्रामसभाओं की तैयारी के दौरान एक दुर्घटना में उनके घुटने में चोट आई जो अभी तक ठीक नहीं हुई। चोटिल अवस्था में ही वे घूमते रहे हैं। अभी वे समाजवादी जन परिषद के राष्ट्रीय सचिव हैं।

इस अद्भुत आंदोलन के अद्भुत नेता से सामयिक वार्ता के लिए बातचीत जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की शोधछात्रा शिउली वनजा ने की है। -सं.

नियमगिरि का आंदोलन कब और कैसे शुरू हुआ?

2002 में वेदांत कंपनी के प्रोजेक्ट की जनसुनवाई हुई। 2002 से ही आंदोलन की शुरुआत हुई, पर जनता के सामने यह आंदोलन के रूप में आया 2003 में।

ओड़िशा में इसके पहले गंधमार्दन व काशीपुर में बाक्साइट खनन के खिलाफ आंदोलन चले। इनका कोई असर नियमगिरि के आंदोलन पर था क्या?

1980 के दशक में बरगढ़-बलांगीर जिलों में गंधमार्दन पर्वत में बाल्को के बाक्साइट खनन के खिलाफ आंदोलन हुआ था। मैं उसका एक प्रमुख कार्यकर्ता था। गंधमार्दन की लड़ाई का प्रभाव काशीपुर के आंदोलन पर था। मैं काशीपुर के आंदोलन का भी हिस्सा था। तो हमें नियमगिरि के आंदोलन में गंधमार्दन और काशीपुर दोनों से प्रेरणा और अनुभव की मदद मिली है। मैं कालाहांडी में रहता हूं। वेदांत के खिलाफ जो लड़ाई चल रही है वह मेरे अपने जिले में है तो मुझे तो इस आंदोलन में हिस्सा लेना

आवश्यक था ही।

नियमगिरि पर्वत के आसपास का जो इलाका है, वह आदिवासी बहुल क्षेत्र है या कोई दूसरी जातियां भी हैं यहां?

खदान जहां हैं वहां तो आदिवासी और दलित ही मुख्य रूप से रहते हैं। लगभग 85 प्रतिशत आदिवासी हैं। आदिवासियों में भी मुख्य रूप से 'कुई' भाषा बोलने वाले कंध आदिवासी ही हैं। इन्हें आमतौर पर डंगरिया कंध के नाम से जाना जाता है- याने डंगर या पहाड़ पर रहने वाले लोग। पर इन्हें दो अन्य नामों से भी जाना जाता है, झरनिया कंध और कुटिया कंध। झरनिया कंध, जो झरने के पास रहते हैं। कुटिया कंध, जो पहाड़ के निचले भाग में रहते हैं। एक ही आदिवासी जाति है पर इन्हें अलग-अलग नाम से पुकारा जाता है।

आपको कुई भाषा पहले से आती थी या आपने आंदोलन के दौरान सीखी?

मुझे यह भाषा पहले से नहीं आती थी। अभी भी अच्छी तरह से नहीं आती है, थोड़ी-थोड़ी समझ लेता हूं। हमारी भाषा भी यह लोग नहीं समझ पाते थे, इसलिए थोड़ी दिक्कत भी हो रही थी।

तब आपने क्या किया?

हमने काशीपुर से अपने कुछ साथियों को बुलाया जिन्हें कुई भाषा आती थी। साथ ही जब कालाहांडी जिले में लांजीगढ़ में वेदांत के रिफायनरी प्लांट के खिलाफ आंदोलन चल रहा था उसके कुछ नेता उन गांवों से थे जो पहाड़ के निचले हिस्से में बसे हुए थे। इन्हें कुई भाषा भी आती थी और हमारी भाषा भी आती थी। इन लोगों के सहयोग से हमने भाषा की समस्या को हल किया। इनमें से ही आंदोलन के नेतृत्व का विकास हुआ।

ओड़िशा के अन्य इलाकों में आदिवासियों और दलितों के बीच में काफी टकराव रहा है। इस आंदोलन के दो प्रमुख कार्यकर्ता आप और राजकिशोर दोनों दलित हैं। तो आपको आदिवासियों के बीच काम करने में कोई दिक्कत नहीं आई?

मैंने तो अपने दलित होने के कारण कभी भी कोई दिक्कत इस आंदोलन में महसूस नहीं की। आदिवासी बहुत ही खुले दिल वाले लोग हैं। इसलिए आप दलित हों चाहे गैर दलित हों, वे सबको बहुत स्नेह से स्वीकारते हैं। इसलिए उनके साथ काम करना बहुत आसान है। यह

जरूर है कि जब कोई आदिवासियों को धोखा देता है या उनके साथ बुरा करता है तब वो नाराज हो जाते हैं। पर मुझे और राजकिशोर को तो उन्होंने सगे खून के रिश्ते जैसा प्यार और सम्मान दिया है।

इस आंदोलन के प्रमुख नेता/कार्यकर्ता कौन थे? बाहर से आपको किन साथियों से मदद मिली?

कार्यकर्ता के रूप में समाजवादी जन परिषद के चार साथी थे जिन्होंने बिल्कुल शुरूआत से आंदोलन में पूर्णकालिक कार्यकर्ता के रूप में काम किया। ये साथी हैं- राजकिशोर, प्रेमलाल प्रधान, कुमुद बेहरा और मैं। समाजवादी जनपरिषद के तथा दूसरे भी अन्य साथी कभी-कभी मदद करते थे।

इस आंदोलन में समाजवादी जन परिषद और अन्य दलों व संगठनों की क्या भूमिका रही?

इस आंदोलन में स.ज.प. के लोगों की प्रमुख रही है। पर यह आंदोलन हमने स.ज.प. के बैनर तले नहीं किया। 'नियमगिरि सुरक्षा समिति' के नाम से यह लड़ाई लड़ी गई, ताकि सब तरह के लोग इसमें शामिल हो और एक ताकतवर आंदोलन खड़ा हो सके।

इतने लंबे समय तक आंदोलन चला तो इसके जो पूर्णकालिक व अंशकालिक कार्यकर्ता थे उनका खर्चा और रैली धरने इत्यादि के लिए पैसा कहां से आता था?

आंदोलन से जुड़े लोगों के मुट्ठी कलेक्शन से ही आंदोलन चलता था।

मुट्ठी कलेक्शन मतलब?

चंदा। घर-घर से चंदा। अनाज का या पैसे का?

बाहर से कोई फंडिंग नहीं? कोई फेलोशिप भी नहीं?

कोई विदेशी धन या फेलोशिप तो आज तक हमने नहीं ली। कभी-कभी जब कोई सहमना संगठन या व्यक्ति, जो एनजीओ नहीं हैं और मुख्यधारा की राजनैतिक पार्टियों के नहीं हैं, चंदा/सहयोग देते थे, तो वो हम स्वीकार कर लेते थे। संवेदनशील व्यक्तियों या संगठनों से ही हम कोई मदद लेते थे।

आप फेलोशिप, एनजीओ या फोरेन फंडिंग के खिलाफ क्यों हैं?

एनजीओ ने आंदोलन में क्या भूमिका निभाई है या निभाते हैं, हमने उसे बखूबी समझा है। वे आंदोलन को

अपनी पकड़ में रखने की कोशिश करते हैं। यदि वे कार्यकर्ताओं को आर्थिक सहयोग देते हैं तो कई बार ऐसा देखा गया है कि जब आंदोलन को आवश्यकता हैं तभी वे अचानक आर्थिक सहयोग देना बंद कर देते हैं। और इस तरह से फोरेन फंडिंग या एनजीओ पर निर्भर आंदोलन कई बार खत्म हो जाता है।

एनजीओ-फोरेन फंडिंग की एक सीमा है। पर आंदोलन की तो कोई सीमा नहीं होती। इसे लगातार निरंतर चलना चाहिए। इसलिए जो लोग फोरेन फंडिंग से आंदोलन चलाते हैं वह आंदोलन कभी भी आगे नहीं बढ़ पाता है। आंदोलन को आगे बढ़ने और जीतने के लिए आत्मनिर्भर होना चाहिए।

तो फिर क्या चंदे से ही कार्यकर्ताओं का जीवन निर्वाह होता है? उन्हें किस तरह की आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा?

कार्यकर्ताओं के जीवन निर्वाह के लिए कुछ तो हम अपने दोस्तों के समूह से मदद मांगते हैं। दोस्तों से जो आर्थिक सहयोग मिलता है उससे हमारे घर का खाना-पीना तो नहीं चल पाता है पर हमारे आने-जाने के और छोटे-मोटे खर्चे निकल जाते हैं। इसके बावजूद हमारे कार्यकर्ता कष्ट उठाकर भी काम करते हैं। मैं उन्हें धन्यवाद देना चाहता हूँ। ज्यादातर गरीब लोग ही हमारे कार्यकर्ता हैं और वे काफी समस्याओं के साथ घर चला रहे हैं। मध्यम वर्ग के कोई कार्यकर्ता हमारे साथ नहीं हैं। यह बड़ी बात है कि इतने कष्टों के बावजूद ये कार्यकर्ता समर्पित होकर समाज और देश के लिए काम कर रहे हैं। यह हमारे लिए दुःख की बात है कि हम इन कार्यकर्ताओं के लिए कुछ बेहतर साधन नहीं जुटा पाते हैं। पर साधन जुटाने के लिए अपने आदर्शों के साथ समझौता करके हम एनजीओ से तो पैसा ले नहीं सकते। मेरी पत्नी सरकारी नौकरी करती हैं इसलिए मैं उनसे आर्थिक सहयोग ले लेता हूँ। पर कई दूसरे साथियों के पास इस तरह का सहयोग उपलब्ध नहीं हैं।

हर आंदोलन की तरह क्या नियमगिरि के आंदोलन में भी उतार-चढ़ाव नहीं आए? क्या

ऐसे मौके नहीं आए जब आंदोलन शिथिल पड़ गया और आगे कैसे बढ़ें, यह समझ में नहीं आने लगा?

बहुत आए। लोग कहने लगे कि आंदोलन खत्म हो जाएगा। ऐसा हमें भी महसूस होने लगा कि शायद खत्म हो रहा है। मगर हमने लगातार यह कोशिश की कि यदि आंदोलन तेज न भी हो पाए तो भी जिंदा तो बना रहे। कभी आंदोलन तेज गति से बढ़ा, कभी घटा। अभी हमारा आंदोलन बहुत तगड़ा है। पर साथ ही मैं यह कहना चाहूंगा कि अभी और तगड़ा होने की गुंजाइश है।

मैं काशीपुर और गंधमार्दन आंदोलनों के साथ नियमगिरि के आंदोलन की तुलना करना चाहूंगा। काशीपुर आंदोलन एक समय में नियमगिरि के आंदोलन से भी तगड़ा था। पर उन्हें शहर से और बाहर से कोई सहयोग नहीं मिला। हमारा आंदोलन काशीपुर से कम तगड़ा है पर हमें बाहर से काफी सहयोग मिला। हमें जिला

मुख्यालय से और ओड़िशा के विभिन्न क्षेत्रों से मदद मिली। इसलिए हमारा आंदोलन काशीपुर से अलग तरीके से आगे बढ़ पाया। हमने एक बात गंधमार्दन के आंदोलन से सीखी थी। गंधमार्दन पर्वत से लोगों की धार्मिक संवेदनाएं जुड़ी हुई

थी। गंधमार्दन पर्वत के एक तरफ नरसिंहनाथ और दूसरी तरफ हरिशंकर का मंदिर बना हुआ है। इसलिए धर्म के नाम पर बहुत सारे लोग गंधमार्दन के आंदोलन से जुड़ गए थे। गंधमार्दन आंदोलन की जीत में इस बात का बड़ा योगदान था।

पर नियमगिरि में ऐसा नहीं है। इसे डंगरिया कंध लोग तो पूजा का स्थल मानते हैं। पर जिले के दूसरे लोगों के लिए ऐसा नहीं था। इस आंदोलन को विचार के आधार पर लड़ा गया। हमारे मार्गदर्शक किशन पटनायक जी को बुलाकर बार-बार विचार गोष्ठियां और सेमिनार किए गए। इनका काफी प्रभाव पड़ा और अन्य लोग भी हमारे समर्थन में आए। कालाहांडी के नौजवानों ने 'संचेतन नागरिक मंच' के नाम से एक संगठन बनाया और 2004 के बाद इन्होंने पूरी शक्ति से हमारा साथ दिया। कालाहांडी के वकीलों ने भी हमारा साथ दिया।

कांग्रेस के स्थानीय नेता और पूर्व केंद्रीय मंत्री भक्तचरण दास ने भी अपने वोटों को बचाने और बढ़ाने के लिए 'ग्रीन कालाहांडी' नाम से एक संगठन बना कर आंदोलन को समर्थन दिया। हमने स्वागत किया। मगर दुख की बात यह है कि चुनाव जीतने के बाद उन्होंने अपना सहयोग पूरी तरह से खत्म कर दिया। अभी वे ही भक्तचरण दास वेदांत कंपनी के लिए वैकल्पिक खदानें ढूँढ रहे हैं।

रायगढ़ जिले में राजुरगुड़ा में जमीन-अधिग्रहण के खिलाफ सीपीआईएमएल न्यू डेमोक्रेसी के लोगों के द्वारा एक आंदोलन चल रहा था। ये लोग भी 2008 से हमारे साथ पूरे दम से जुड़े हुए हैं। आखिर तक न्यू डेमोक्रेसी के लोग साथ मिलकर काम कर रहे हैं। सब लोग 'नियमगिरि सुरक्षा समिति' के बैनर तले काम कर रहे हैं।

आंदोलन के उतार के किसी समय में क्या प्रमुख कार्यकर्ताओं को निराशा नहीं हुई? उसे कैसे दूर किया?

किशन पटनायक से हमें यह प्रेरणा मिली है कि हमें कभी निराशा नहीं होना है। आंदोलन चलाने वाला यदि निराशा हो जाए तो आगे नहीं बढ़ सकता है। कई बार दूसरे कार्यकर्ताओं को मैंने उत्साहित करते हुए समझाया कि लोग भले ही हमारे आंदोलन को समर्थन न दें, हमारा विचार यदि ठीक है तो हमें निराशा हुए बिना लगातार आगे बढ़ने के लिए संघर्ष करना चाहिए। आजादी के समय का एक गीत है, जो मैं दुहराता हूँ-

*जोदि तोर डाक शुने केऊ ना आशे
तोबे एकला चोलो रे।*

(यदि तुम्हारी पुकार सुनकर कोई न आए तो अकेले चलो रे-रवींद्र)

कई लोग यह कह रहे हैं कि नियमगिरि के आंदोलन में माओवादियों की अहम भूमिका रही। माओवादियों की इस आंदोलन में क्या भूमिका रही? क्या माओवादियों की उपस्थिति इस क्षेत्र में है? और इस आंदोलन का माओवादियों के साथ क्या रिश्ता रहा?

माओवादियों की भूमिका है या नहीं, यह सही ढंग से कोई भी नहीं कह पाएगा। हम लोग साम्राज्यवादी ताकतों के खिलाफ लड़ रहे हैं। सिर्फ नियमगिरि में ही नहीं, देश भर में। माओवादी लोग भी साम्राज्यवाद-पूंजीवाद के खिलाफ लड़ते हैं। पर इनके लड़ने का तरीका और अनुभव हमसे अलग है। हम माओवादियों के शस्त्र से लड़ने के तरीके का समर्थन नहीं करते हैं। क्योंकि सरकार के पास हमसे ज्यादा शस्त्र हैं। इसलिए अस्त्र की लड़ाई में हम सरकार से कमजोर हो जाएंगे। जिस तरह से चुनाव में पैसे की लड़ाई होने पर जिसके पास ज्यादा पैसा है वो जीत जाता है। इसलिए सशस्त्र लड़ाई जीत में बदल नहीं पाती है।

*किशन पटनायक से हमें यह प्रेरणा मिली है
कि हमें कभी निराशा नहीं होना है। आंदोलन
चलाने वाला यदि निराशा हो जाए तो आगे नहीं
बढ़ सकता है।*

हमारे आंदोलन में जब हमारे स्थानीय आदिवासी नेता लद्दा शिका को पुलिस माओवादी का वेश बनाकर उठा कर ले गई

तो हमें भी लगा कि माओवादी लोग हमारे नेता को ले गए। बाद में पता चला कि माओवादी लोग नहीं थे, पुलिस प्रशासन था। उसे रायगढ़ ले गए, पिटाई की, एनकाउंटर करने की धमकी दी। आंदोलनकारियों ने बहुत प्रदर्शन किया और विरोध किया तो बाद में लद्दा शिका को छोड़ दिया। बाद में यह बात अखबारों में भी आई। माओवादियों को जब यह बात पता चली तो उन लोगों ने गुस्से में आकर कंपनी की दलाली करने वाले नियमगिरि के दो लोगों का सिर काट दिया और भाग गए। मुझे पहले लगा कि यह कंपनी का खेल है। बाद में पता चला कि सच में माओवादी लोगों ने गुस्से में आकर अपनी उपस्थिति दर्ज कराने के लिए यह किया। पर नियमगिरि सुरक्षा समिति के बैनर तले जो आंदोलन है वह माओवादियों का आंदोलन नहीं है। उसमें वो शामिल भी नहीं हैं। बाहर से समर्थन देते होंगे, पर यह हमें स्पष्ट नहीं है। माओवादियों ने आकर जो ये दो लोगों को मारा इससे संगठन को फायदा भी हुआ और नुकसान भी हुआ।

फायदा क्या हुआ और नुकसान क्या हुआ?

इससे हमारे आंदोलन को माओवादी घोषित कर दिया गया, जिससे आंदोलन को बहुत दिक्कत आई। एक ओर फायदा यह हुआ कि जो कंपनी के दलाल और गुंडे हमें और हमारे कार्यकर्ताओं को परेशान कर रहे थे, उन्होंने डर के हमें परेशान करना बंद कर दिया। दूसरी ओर

दिवकत यह हुई कि पुलिस प्रशासन के लोगों ने आकर हमारे कई सारे कार्यकर्ताओं को माओवादी बोलकर पकड़ लिया, पिटाई की, कई लड़कियों के साथ बलात्कार भी किया। माओवादियों की तलाश के नाम पर लोगों के खेतों को रौंद कर नष्ट कर देते थे। वे लोगों के मकानों के अंदर घुसकर सामान को इधर-उधर फेंक देते थे। कई लोगों के आवश्यक कागजात इस प्रक्रिया में गायब हो गए, सोने की वस्तुएं और अन्य सामान भी लोगों के घर से गायब हो गए। इस तरह से आंदोलन के लोगों को बहुत असुविधा हुई।

माओवादियों की इस घटना के बाद जगह-जगह पुलिस और सीआरपीएफ के कैंप बन गए। इससे लोग खुले में शौच के लिए और नहाने के लिए जाने में डरने लगे। यह भी डर फैला कि कभी भी, किसी को भी, माओवादी बोल के एनकाउंटर हो सकता है। इस सबसे आंदोलन को बहुत नुकसान हुआ।

बाद में पुलिस को भी समझ में आया कि यह आंदोलन मुख्य रूप से लोकतांत्रिक रूप से लड़ा जा रहा आंदोलन है। हमारे आंदोलन को माओवादियों का समर्थन तो नहीं है, कोई माओवादी नेता है या नहीं, यह बात पुलिस बार-बार जानने की कोशिश करती थी।

अभी भी पुलिस का हमला तो है और बीच-बीच में माओवादी भी अपनी उपस्थिति जाहिर करते हैं।

कुछ लोग कह रहे हैं कि ग्रामसभाएं को सुचारू रूप से होने देने में माओवादियों का हाथ था। इस बात में कितना सच है?

सुप्रीम कोर्ट का फैसला आने के बाद माओवादियों ने प्रेस विज्ञप्ति जारी की कि वे ग्राम सभाएं नहीं होने देंगे। हमारा यह मानना था कि हम ग्रामसभाओं को स्वीकार कर अपने पक्ष में और वेदांत के खिलाफ फैसला आए, यह प्रयास करेंगे। हमने एक पदयात्रा निकाली, रैली की, लोगों को समझाया और ग्रामसभाएं हुईं। उनमें लोगों ने दिल खोलकर अपनी बात रखी और पूरी बारह ग्रामसभाओं में हम जीते। यह सब हो जाने के बाद माओवादी बयान दे रहे हैं कि उनके कारण ग्रामसभाएं हो पाईं।

ओड़िशा में बाक्साइट के खनन के खिलाफ

गंधमार्दन, काशीपुर और नियमगिरि में तीन बड़े आंदोलन चले। तो गंधमार्दन क्यों सफल रहा? काशीपुर क्यों असफल रहा और नियमगिरि में हाल की जो जीत मिली वह क्यों मिली? तीनों आंदोलनों की क्या विशेषता रही कि अलग-अलग तरह के परिणाम आए?

मैंने पहले भी बताया कि गंधमार्दन आंदोलन को धार्मिक कारणों से ओड़िशा के काफी लोगों का समर्थन मिला। जमीनी रूप से अपनी आजीविका बचाने के लिए आंदोलन को आगे बढ़ाने वाले स्थानीय लोग व धार्मिक भावनाओं के कारण आसपास के लोग साथ आए। इसलिए यह आंदोलन सफल हुआ।

काशीपुर में तगड़ा आंदोलन था। लेकिन उसे बुद्धिजीवियों और बाहरी लोगों का समर्थन बहुत मिला नहीं। काशीपुर आंदोलन में कुछ लोग अपने लोभ में कंपनी के पक्ष में चले गए थे। हर आंदोलन में कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो ललचा जाते हैं। काशीपुर के आंदोलनकारियों ने इन लोगों को अपने शत्रु के रूप में देखा।

जो लोग कंपनी का समर्थन कर रहे थे, हम उनके पास बार-बार जाते रहे। दोस्त की तरह उनसे बात करते थे। उन्हें समझाते थे कि आप बुरा कर रहे हो। आपके बेटे-बेटी आपको कभी क्षमा नहीं करेंगे।

हमने नियमगिरि में यह नहीं किया। जो लोग कंपनी का समर्थन कर रहे थे, हम उनके पास बार-बार जाते रहे। दोस्त की तरह उनसे बात करते थे। उन्हें

समझाते थे कि आप बुरा कर रहे हो। आपके बेटे-बेटी आपको कभी क्षमा नहीं करेंगे। तत्काल के सुख के लिए दीर्घकाल को दांव पर लगा रहे हो।

बाद में जब कंपनी चालू हुई और इन्हें कुछ मिला नहीं तो उन्होंने कंपनी के विरोध में आंदोलन शुरू किया। तब ये लोग मेरे पास आए कि हम इनके आंदोलन को नेतृत्व दें। मैंने यह स्पष्ट कर दिया कि कंपनी हमें थोड़ा लाभ दे कर कंपनी चलाए, यह बात तो मैं नहीं कह सकता। मैं कहूंगा कि अपनी कंपनी बंद करो और यह जंगल छोड़ दो। जिन लोगों की आजीविका कंपनी ने नष्ट की है उन्हें मुआवजा व सुविधाएं दो और यहां से जाओ। उन्होंने हमारी बात को स्वीकारा और हमने नियमगिरि सुरक्षा समिति की शक्ति को इनके आंदोलन में लगाया।

रिफायनरी के कारण रेंगोपाली के 18 लोग अलग-अलग तरह की बीमारियों जैसे टीबी, एलर्जी, एसबोफेलिया

इत्यादि से मर गए। रेंगोपाली के पास ही कंपनी ने तालाब बनाया है, जिसमें रिफायनरी की गंदगी छोड़ी जाती है। छतरपुर गांव के लोग पहले कंपनी का समर्थन करते थे। कंपनी से निकलने वाला गंदा पानी उनकी नदी में छोड़ा गया। एक लड़की जब इस प्रदूषित पानी में नहाई तो उसकी चमड़ी उधड़ गई। नदी की सारी मछलियां और अन्य जीव मर गए। यह सब देखकर छतरपुर गांव के लोग हमारे आंदोलन से जुड़ गए।

तो वे सब लोग जो पहले कंपनी के समर्थन में थे और जिन्हें हमने शत्रु नहीं माना वो धीरे-धीरे हमारे मित्र बन गए। इससे आंदोलन की ऊर्जा बढ़ी। ओड़िशा में जल, जंगल और जमीन को लेकर जितने आंदोलन चल रहे हैं उनका उद्देश्य एक ही है लोगों की आजीविका बचाना। नियमगिरि सुरक्षा समिति ने ओड़िशा में जगह-जगह चल रहे इस तरह के आंदोलनों को समर्थन व सहयोग दिया। और हमें अपने आंदोलन में उनका सहयोग भी मिला। यह भी हमारी सफलता का एक कारण है।

पेसा कानून (अनुसूचित क्षेत्रों में पंचायत राज विस्तार कानून) के तहत आदिवासी इलाकों में ग्रामसभा की मंजूरी लेने का प्रावधान काफी समय से है। आमतौर पर यह देखा गया है कि कंपनी और सरकार मिलकर, दबाव डाल कर, पैसा खिलाकर, इन ग्रामसभाओं का फैसला अपने पक्ष में करवा लेते हैं। नियमगिरि के केस में ऐसा क्यों नहीं हुआ?

पेसा कानून 1996 में बना। हमारा आंदोलन 2002-03 से शुरू हुआ तब ही पेसा कानून लागू होना चाहिए था। पेसा कानून को ताक पर रखकर कंपनी और ओड़िशा सरकार आगे बढ़ते जा रहे थे। 2002 में भी एक धोखाधड़ी पूर्ण जनसुनवाई हुई थी, जिसमें वेदांत का कोई विरोध नहीं है, ऐसा निर्णय दिया था। 2008 में जस्टिस अरिजित पसायत ने सुप्रीम कोर्ट में जो निर्णय लिया वह बहुत गलत निर्णय था।

वह क्या निर्णय था?

उनके अनुसार वेदांत एक ब्लैक लिस्टेड कंपनी थी। पर उसकी सहायक कंपनी स्टर्लाइट एक अच्छी कंपनी थी तो वेदांत की जगह स्टर्लाइट को नियमगिरि से बाक्साइट निकालने देना चाहिए। बाद में जयराम रमेश ने पर्यावरण शर्तों के उल्लंघन के कारण वेदांत कंपनी की पर्यावरण मंजूरी को खारिज कर दिया। ओड़िशा सरकार

ने वेदांत की तरफ से सुप्रीम कोर्ट में इसके खिलाफ अर्जी दायर की और हाल ही में सुप्रीम कोर्ट ने जो फैसला दिया, वह सही फैसला था। इसमें पेसा के अंतर्गत शिड्यूल्ड एरिया में ग्राम सभाएं कराने का आदेश दिया। साथ ही उनमें जिला जज को पर्यवेक्षक नियुक्त करने का जो आदेश दिया, वह भी अहम था।

नियमगिरि में कुछ विशेष परिस्थितियां बनी- राहुल गांधी का आना, जयराम रमेश का पर्यावरण मंजूरी को रद्द करना, फिर से सुप्रीम कोर्ट में इसका जाना, सुप्रीम कोर्ट का लोगों की धार्मिक भावनाओं के जुड़े होने के मद्देनजर ग्राम सभाओं के द्वारा लोगों की राय को मांगना इत्यादि। इन विशेष परिस्थितियों की नियमगिरि की जीत में क्या भूमिका थी?

यह कहना मुश्किल है। पर इसे कांग्रेस के कारण हुई जीत नहीं कहा जा सकता। राहुल गांधी वहां आकर कहते हैं कि मैं आदिवासियों का सिपाही हूँ। तो फिर वो काशीपुर के एल्यूमिना प्लांट को क्यों नहीं रोकते? वह भी आदिवासियों का इलाका है। देश भर में जहां कहीं भी आदिवासी जल, जंगल, जमीन की लड़ाई लड़ रहे हैं उनके सिपाही वे क्यों नहीं बनते? यह जो फैसला आया है वह सिर्फ और सिर्फ जनता के आंदोलन और संघर्ष का नतीजा है। यह न तो कांग्रेस की जीत है, न किसी राजनैतिक पार्टी की जीत है, न एनजीओ की जीत है। यह सिर्फ जनता की जीत है।

नियमगिरि के बाक्साइट खनन से 112 गांव प्रभावित होते हैं। इन सभी 112 गांवों में ग्रामसभाएं होनी चाहिए थी। पर सिर्फ 12 गांवों में ही ग्रामसभाएं करवाई गईं। इसके पीछे कंपनी और सरकार की क्या मंशा थी? दूसरी जगह कंपनी से डरकर या पैसा खाकर ग्रामसभाओं के निर्णय कंपनी के पक्ष में हो जाते हैं। ऐसा नियमगिरि में क्यों नहीं हुआ?

जिन ग्राम पंचायत के सरपंच कंपनी का समर्थन कर रहे थे और जहां बीजू जनता दल (ओड़िशा का सत्ता दल) का दबदबा था, जानबूझकर उन्हीं 12 गांवों को चुना गया। वे इन 12 गांवों को कंपनी का गढ़ समझ रहे थे।

आदिवासी लोगों का आपसी समझौता रहता है।

चुने गए गांवों और नहीं चुने गए गांवों में आपस में रिश्तेदारी हैं। इसलिए पैसे के आधार पर इन 12 गांवों को कंपनी खरीद नहीं पाई।

दूसरी बात यह है कि डंगरिया कंध लोगों के नियमगिरि देवता हैं, जिसकी वे पूजा करते हैं। हर साल नियमगिरि पर्वत के ऊपर जाकर नियमराजा के पर्व को मनाते हैं। भगवान को पैसों से खरीदना मुश्किल है। इसलिए सरकार और कंपनी के इस तरह की रणनीति अपनाने का कोई असर नहीं हुआ।

कई लोग यह कहते हैं कि बाक्साइट खनन और एल्यूमीनियम उद्योग विकास के लिए जरूरी है। यदि हम बाक्साइट खनन और एल्यूमीनियम आधारित उद्योगों का विरोध करेंगे तो ओड़िशा जैसे क्षेत्रों का विकास और तीव्र औद्योगीकरण कैसे होगा? क्या आपके आंदोलन को विकास विरोधी नहीं ठहराया गया?

जितने भी स्थापित राजनैतिक दल हैं वे हमें विकास विरोधी ठहराते हैं। हमारे हिसाब से एल्यूमिनियम या खनन से हमारा विकास नहीं हो सकता है। यह तो हमारी बरबादी का विकास है।

आज का जो यह द्रुत शिल्पायन (तीव्र औद्योगीकरण) है, वह सोने के अंडे देने वाली मुर्गी को काटकर अंडे निकालने के समान है। जिसमें अंडा एक

ही निकलेगा और मुर्गी भी मर जाएगी। पर यदि मुर्गी को जिंदा रखेंगे तो अंडे काफी समय तक आने वाली पीढ़ियों को भी मिलेंगे।

आज का विकास खेती-किसान को बरबाद कर लूट का विकास है। नियमगिरि पर्वत बहुत सारे लोगों की आजीविका का आधार है। नियमगिरि पर्वत को खोदकर जो विकास होगा वह जनता का विकास नहीं है, कंपनी का विकास हो सकता है। भारत में जो औद्योगीकरण हो रहा है वह टार्च की लाईट जैसा विकास है। भारत में अंधेरा रहेगा और जहां खनिजों का निर्यात हो रहा है, जहां टार्च की रोशनी का फोकस है, वहां का विकास होगा।

वेदांत रायल्टी के रूप में भारत सरकार को 4000 करोड़ रुपया देने की बात करती है। नियमगिरि के कुछ

पेड़ों को बेचकर हम उससे ज्यादा कमा लेंगे। नियमगिरि की जड़ी-बूटियां, पानी के स्रोत इत्यादि की भरपाई कैसे होगी? जहां फैक्ट्री बनती हैं, वहां बहुत सारी खेती की जमीन बरबाद हो जाती है। पानी, जमीन, वायु प्रदूषित हो जाता है।

आपके हिसाब से विकास कैसे होना चाहिए?

हमारी जरूरत से ज्यादा खनन नहीं होना चाहिए। नाल्को की एक खदान ओड़िशा में चल रही है। उससे भारत की आवश्यकताएं पूरी हो रही हैं और वो भारत से बाहर निर्यात भी कर रहे हैं। ज्यादा बाक्साइट खनन की कोई आवश्यकता नहीं है।

सक्सेना कमेटी ने एक अच्छी रिपोर्ट पेश की है। उसके अनुसार यदि वेदांत कंपनी 10 लाख टन प्रति वर्ष के हिसाब से खनन करेगी तो 23 साल में नियमगिरि का पूरा बाक्साइट खत्म हो जाएगा। और यदि 60 लाख टन प्रति वर्ष के हिसाब से निकालेंगे तो 3 से 4 साल में नियमगिरि समाप्त हो जाएगा।

पूरे ओड़िशा का बाक्साइट 20 से 25 साल में खत्म हो जाएगा। यदि हम पूरा जंगल बेच देंगे, पूरा खनिज निकाल लेंगे तो 20-25 साल बाद हम देश को कैसे

चलाएंगे? उसके बाद देश में पैसा अर्जित करने के लिए क्या बेचेंगे? इतना जो करजा देश के ऊपर है उसे कैसे चुकाएंगे? कोई विकल्प है क्या?

जब पानी और जंगल को हम बचा नहीं पाएंगे तो लोग ही जिंदा बच नहीं पाएंगे। इसलिए देश की भलाई के लिए और साधारण जनता के हित में जो विकास होगा, उसे ही हम विकास कहेंगे।

कालाहांडी भुखमरी और गरीबी के लिए जाना जाता है। क्या वहां के आदिवासी को आप इसी हालत में रखना चाहते हैं? कंपनी आने से नए रोजगार के अवसर खुलेंगे, बिजली आएगी, लोगों को रोजगार मिलेगा।

कितने लोगों को यह कंपनी रोजगार देगी? और बिजली देगी?

सिर्फ जिनकी जमीन जाती है वो ही लोग खदान से बरबाद नहीं होते हैं। खदान के करीब सौ कि.मी. के घेरे

में असर पड़ता है। उनकी आजीविका किसी न किसी रूप में नष्ट होती है। कालाहांडी में जो लोगों को पहले से असुविधा है वह सरकार की नीतियों के कारण है।

हम कालाहांडी में एक सपना देख रहे थे। जब के बी के (कालाहांडी-बलांगीर-कोरापुट) योजना लागू हुई हमें लगा कि कालाहांडी में ज्यादा पैसा आएगा और इसका विकास होगा। कालाहांडी में आज भी बहुत सारी योजनाओं के तहत पैसा आ रहा है पर विकास की एक बूंद भी हम नहीं देख पा रहे हैं। यह पैसा कहां जा रहा है? क्या हो रहा है? कैसा विकास है ये? सिर्फ पैसा मिल जाने से और खाना खा पाने से विकास नहीं होगा। स्वास्थ्य, शिक्षा और अन्य सामुदायिक सुविधाएं लोगों को उपलब्ध होना चाहिए। दिल्ली दरबार में एसी कमरों में बैठकर विकास की परिकल्पना करने से तो विकास नहीं होगा। जनता से राय ली जाए कि वो कैसा विकास चाहते हैं और उसी तरह से विकास लाया जाए।

नियमगिरि के डंगरिया कंध व अन्य लोगों की वेदांत के बाक्साइड खनन प्रोजेक्ट के प्रति मुख्य

आपत्ति क्या थी?

नियमगिरि के लोग स्वस्थ व प्राकृतिक जीवन जीने वाले लोग हैं। जंगल में जीवन यापन करने वाले ये लोग शहर में नहीं रह सकते हैं। भुवनेश्वर में एक कार्यक्रम था, जिसमें डंगरिया कंध लोग गए थे। वहां उन्हें इतना अटपटा लग रहा था कि वे पेड़ के ऊपर चढ़कर बैठ गए। यह इस बात को दर्शाता है कि इनका जंगल के साथ कितना अटूट संबंध है। इनकी ज्यादातर आवश्यकताएं जंगल से पूरी होती हैं। कुछ नहीं करने से भी इनका विकास हो सकता है। पर आज इनकी लूट हो रही है। जो चीजें ये जंगल से और खेती से पाते हैं, उन्हें बहुत कम दाम पर इनको बेचना पड़ रहा है। ये ही लूट का स्रोत है। जंगल से लाई हुई चीजें अदरक, नींबू, काली मिर्च इत्यादि ये लोग मिट्टी के मोल बेचते हैं। यदि इन वस्तुओं का सही दाम सरकार के माध्यम से मिल जाता तो उन्हें और कुछ नहीं चाहिए। वे बहुत खुश हैं जंगल में।

नियमगिरि के पूरे आंदोलन में मीडिया की भूमिका पर कुछ प्रकाश डालिए।

मीडिया की दोनों तरह की भूमिका रही। कभी-कभी आंदोलन के पक्ष में मीडिया ने काम किया। कभी-कभी सीधे कंपनी के पक्ष में काम किया। मगर यह बात सच है कि जब ग्राम सभाएं हुईं तब मीडिया निष्पक्ष था। जो हुआ, वैसा का वैसा बताया। कारण यह भी था कि मुख्यधारा की मीडिया के अलावा वैकल्पिक मीडिया भी वहां था। यदि एक कैमरा/मीडिया झूठ बताता तो दूसरे मीडिया के कैमरे में पकड़ा जाता। इसलिए उन्होंने निष्पक्ष भूमिका निभाई।

नियमगिरि का आंदोलन एक मुकाम पर पहुंचा है। 12 ग्राम सभाओं ने वेदांत के खिलाफ फैसला दिया है। अब आप क्या मानते हैं- क्या यह आंदोलन पूरी तरह से सफल हो गया? या अभी भी आगे काफी लड़ाई बाकी है? नियमगिरि की सफलता को क्या दूसरी जगह भी दुहराया जा सकता है?

जरूर। देश के लिए प्रेरणा है नियमगिरि का आंदोलन और इसे दूसरी जगह दुहराना चाहिए। हम

अभी जो फैसला हुआ है उसे पूरी सफलता तो नहीं मानते हैं। नियमगिरि सुरक्षा समिति पूरी सफलता तब मानेगी जब लांजीगढ़ का रिफायनरी प्लांट बंद हो जाएगा। उसके आगे भी आंदोलन को निरंतर चलाना होगा। नहीं तो आने वाले दिनों में नियमगिरि को बाक्साइड खनन के लिए किसी और कंपनी को दिया जा सकता है। इसलिए जागृत रहना और रिफायनरी को बंद करवाना आंदोलन के आगे के लक्ष्य हैं। यह हमारी आगे की लड़ाई है।

नियमगिरि का क्या संदेश हो सकता है? देश में कंपनियों का हमला और राज लगातार बढ़ता जा रहा है? वह कैसे रुकेगा?

यह रोका जा सकता है, यदि सारे आंदोलन विविधता में एकता के सिद्धांत का पालन करें। जितने भी जमीनी स्तर पर लड़ने वाले लोग और अन्य देश प्रेमी लोग हैं उन्हें एक होना पड़ेगा। उन्हें मानना होगा कि मतभेद तो जरूर रहेगा पर मनभेद कभी न हो। नियमगिरि सुरक्षा समिति का यही संदेश है।

दुनिया का खेला

अनुपम मिश्र

धरती एक रंगमंच है। हम इसमें अभिनय करते भी हैं और देखते भी हैं। यहां कई नए-नए रस देखने को मिलते हैं। सूक्ष्म से लेकर विराट जगत तक के यहां दर्शन किए जा सकते हैं। दुनिया के इस खेला में हम मिलकर अपनी भूमिका अदा करें।

प्रसिद्ध नाटककार नेमिचंद जैन की स्मृति में दिए गए व्याख्यान (16 अगस्त 2013) के अंश।

गांधीवादी पर्यावरणविद अनुपम मिश्र की दो पुस्तकें बहुत चर्चित व लोकप्रिय रही हैं- 'आज भी खरे हैं तालाब' और 'राजस्थान की रजत बूंदें'। 'गांधी मार्ग' के संपादक।

पता:

गांधी शांति प्रतिष्ठान,
223, दीनदयाल
उपाध्याय मार्ग,
नई दिल्ली- 110002

फोन:

011-23237491

नाटक कैसे करें- यानी नाट्यशास्त्र की बारीकियां तो प्राचीन काल से हमारे मोटे-मोटे ग्रंथों में लिखी ही गई थी। पर विघ्न न आए, उपद्रव न हो जाए- इसका भी पूरा शास्त्र रचा जाने लगा था, उस समय।

सूत्रधार नेपथ्य से रंगभूमि में, रंगमंच पर प्रवेश करता। उसकी इस क्रिया का नाम था- रंगावतरण। उसके साथ एक तरफ पूर्ण कलश यानी जल से भरा कलश लिए एक सहायक होता तो दूसरी तरफ एक सहायक ध्वजा लिए आता।

इस ध्वज का एक विशेष नाम होता था। काम तो विशेष था ही। इसे जर्जर ध्वज कहते थे। आज की हिंदी में इसका मतलब कुछ ऐसा लगेगा- फटा हुआ झंडा। पर भला फटा हुआ, जर्जर ध्वज फहराकर कोई क्यों नाटक करेगा। यह तो एकदम भव्य झंडा होता था। ठाठ से लहराता हुआ। इसे उठा कर पूरे रंगमंच पर इस कोने से उस कोने तक घुमा कर सूत्रधार आ सकने वाले सभी विघ्नों को जर्जर कर देता था।

एक फिल्म, एक दर्शन

मुझे न तो संस्कृत नाटकों की इतनी बारीक परंपरा का कोई अंदाजा था और न दुनिया के इस खेल का। शायद तब मैं आठवीं में पढ़ता था। सन 1959-60 की बात होगी। दिल्ली में कोई अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह हो रहा था। उसमें एक हिस्सा बड़ी फिल्मों का था तो एक हिस्सा बहुत ही छोटी फिल्मों का। इतनी छोटी कि हम सोच भी न पाएं। केवल तीन मिनट की फिल्मों का प्रदर्शन। ऐसी अनेक फिल्मों में से जिसे पहला पुरस्कार

मिला था, उसे देखने का संयोग मेरा हाथ लग गया था। न जाने कैसे।

यह फिल्म कैनेडा के किसी महान निदेशक की बनाई थी। फिल्म शुरु होती है कैनेडा की एक झील के दृश्य से। सुंदर नीला पानी। तब जैसे भी हमारे जल स्रोत इतनी बुरी तरह से प्रदूषित नहीं थे। झील में एक नाव तैर रही है। नाव में एक पिता-पुत्र बैठे हैं। पिता चप्पू खे रहे हैं, 6-8 बरस का बेटा उन्हें निहार रहा है। इस उमर में प्रायः सभी बेटों को अपने पिता बड़े अच्छे लगते हैं।

कैमरा ऊपर उठता है। अब पूरी झील दिखने लगती है। कैमरा और ऊपर जाता है। झील के किनारे बने सुंदर घर आते हैं परदे पर। फिर और ऊपर। पूरा मोहल्ला, फिर और ऊपर उठता है कैमरा। पूरा राज्य, पड़ौसी देश अमरीका, फिर दक्षिण अमरीका, अफ्रीका, यूरोप, एशिया, लो पूरी गोल सुंदर हमारी धरती। कैमरा अभी भी उठता जा रहा है। फिल्म शुरु हुए अभी एक मिनट भी नहीं हो पाया है कि बगल से चांद झांक गया, अब अन्य ग्रह, हमारा सौर मंडल, हमारे सौर परिवार के सभी सदस्य अगल-बगल से निकलते जाते हैं। अब हमारी आंखों के सामने हमारी आकाशगंगा आने लगी है- अनगिनत तारे, सूरज से छोटे और सूरज से बड़े भी। फिर और आकाश गंगाएं। डेढ़ मिनट भी अभी नहीं हो पाता है कि पूरा परदा असंख्य झिलमिल सितारों, तारों, बिंदुओं से ठसाठस भर जाता है। कहीं कोई जरा-सी भी जगह नहीं बचती। विराट दर्शन!

अब कैमरा बड़ी ही तेजी से वापस आने लगता है नीचे। उसी रास्ते सब दृश्यों को वापसी के क्रम में दिखाते हुए वापस

झील पर। झील में अब नाव पर। नाव में चप्पू खेते पिता के हाथ पर। हाथ पर बैठा है एक मच्छर। अब मच्छर के डंक से कैमरा खून में जाता है। खून की नस में दौड़ रहे हैं लाल कण, सफेद कण। अब वह विराट दर्शन की तरह सूक्ष्म दर्शन कराता है। जितना ऊपर गया था, उतना ही वह शरीर में भीतर उतरते जाता है।

आज सन 2013 में इस विषय के जानकार बताते हैं कि हममें से हरेक के शरीर में कोई 90 लाख करोड़ जीवाणु, सूक्ष्म जीव रहते हैं। यही अपने आप में कितना बड़ा खेला है। हम एक विचार पर बनी एक ही संस्था में 20-25 लोग, सामाजिक कार्यकर्ता, पत्रकार, कवि, लेखक एक साथ नहीं रह पाते। एक दूसरे से लड़ते-झगड़ते रहते हैं पूरा जीवन। और ये हैं 90 लाख करोड़ हमारे साथी जो पूरा तालमेल बिठा कर हमारे इस शरीर को टिकाए रहते हैं। तो दुनिया का एक बहुत बड़ा खेला तो हमारे अपने इसी चोले में खेला जा रहा है। लोग हजारों बरसों से आत्मा की खोज कर रहे हैं, क्या पता यही आत्मा हो?

तो न यह सूक्ष्म जगत हमें पकड़ में आता है न वह विराट जगत। इन दोनों का गणित हमारे किसी भी गणित से परे है। दूरियां प्रकाश वर्ष में नापी जाती हैं और

फिर भी उन्हें माप नहीं पाते। दस-पांच बरस में एकाध बार अपनी धरती से सिर्फ 80-90 किलोमीटर ऊपर जाकर हम अपने विज्ञान-ज्ञान की शान बघारें- यह करीब-करीब मूरखपना ही है।

इसी मूरखपने में से निकली यह समझदारी इस तीन मिनट की फिल्म देख कर। इसे देख दूरियां क्या हैं यह भी हम भूल जाएंगे और नजदीकियां क्या हैं, विराट क्या है, सूक्ष्म क्या है, इस सबकी परिभाषा भी बदल जाती है। इसी मौके पर घोड़े की गति हवाई जहाज से भी तेज लग सकती है।

एक जीवाणु है जो हमारी आंख की पुतली में रहता है। उसका काम पुतली की सफाई करते रहना है। दिन भर हम अपनी आंख में कितना कचरा, धुंआ, धूल झोंकते हैं, यह सारी सफाई यह जीवाणु करता है। इस पुतली की छोटी-सी दुनिया का खेला बहुत जोरदार है। जब हम जागते हैं तो यह जीवाणु सोता रहता है। गहरी नींद में। इसे तेज रोशनी, शोर-शराबा कुछ तंग नहीं करता। आराम से सोता है- पूरी रात जो नौकरी करनी है इसे। हमारी

पुतली है ही कितनी बड़ी। एक सेंटीमीटर से भी कम। हमारे सोते ही यह जाग जाता है, अपना काम करने।

कई हिंदी अखबारों में ग्रामीण खबरों में एक शब्द आता है: फलां थाना अंतर्गत गांव। ये पुतली का थानेदार अपने अंतर्गत आने वाले एक सेंटीमीटर के गांव का पूरा चक्कर बड़ी मुस्तैदी से लगाता है। घंटे में एक सेंटीमीटर की भागदौड़ पूरी कर लेता है। उसे भगवान की तरह, हमारी तरह रविवार भी नहीं मिलता। जन्म से मृत्यु तक वह काम ही करता रहता है। वह भी रविवार की छुट्टी मांगने लगे तो हम सबकी आंखें, पूरी दुनिया की आंखें गईं समझो।

वापस दुनिया के खेला पर। पचास बरस भूल जाएं। ये इकाई, दहाई, सैकड़ा, हजार आदि जो गिनती हम सब जानते हैं उनसे परे है। अरब-खरब ही नहीं, गिनती बताने वाले पद्म, शंख जैसे नए शब्द इसमें गली-गली घूमते हैं। इन शब्दों को तो हमने किसी और संदर्भ में सुना भी है पर ऐसे भी शब्द हैं जिन्हें प्रायः हम सुन नहीं पाते- अन्त्य-यह एक संख्या है और इसमें 1 के आगे 14 जीरो लगते हैं। 10,00,00,00,00,00,000 - इकाई, दहाई वाली शैली में शायद 100 खरब। इस गणित को आसानी से समझने



के लिए बाद में दो और शब्द आए- अनादि और अनंत। न शुरु का कुछ पता न अंत का कोई ठीक हिसाब।

खगोलशास्त्र के मामले में जो विस्तार है, जो फैलाव है वह तो स्टीफन हॉकिंग ही जाने पर जिसे हम कूप-मंडूक कह कर उसका मजाक उड़ाते हैं, हमारे कुंए के उस मेंढक को आकाश जितना दिखता है, हमें भी उससे ज्यादा इसका कुछ पता नहीं। हम उन्हीं दो शब्दों की अनादि-अनंत को दुहरा कर अपनी विद्वता झाड़ देते हैं।

अनगिनत अभिनेता, नायक, एक से बढ़ कर एक किस्से-कहानियां, वो भी रोज जुड़ने वाली और पूरी धरती पर फैला शानदार रंगमंच। इस खेला में दर्शक, अभिनेता का अंतर भी मिट जाता है। कभी हम अभिनय करते हैं तो कभी हम अभिनय देखते रह जाते हैं। फिर एक ही आदमी के कई रूप हो जाते हैं यहां- बहुरूपिया।

निदेशक भी नच गए

निदेशक कौन है? विज्ञान और धर्म में अभी तक ठनी है। पिछले दिनों ईश्वर का कण भी यूरोप की

आधुनिकतम प्रयोगशाला में खोजने का दावा किया गया है। नए पुराने कवि जरूर इसका उत्तर दे देते हैं- कभी निदेशक राम हैं तो कभी गोपाल हैं तो कभी रामगोपाल जी! ये निदेशक इतने भारी भरकम कि दुनिया के खेला का पूरा ठेका बस इन्हीं की कंपनी के पास। सबको बस ये ही नचाते हैं: सबही नचावत रामगोपाल।

अपने इन दोनों निदेशकों को ही देख लें जरा। इन दोनों ने हमें तो नचाया ही। पर जब वे खुद इस खेला में अवतार लेकर आए, उनका रंगावतरण हुआ तो वे भी नच गए थे। इन दोनों के जीवन में भी कैसी-कैसी फांक पड़ी थी- खास कर अंत में।

रामजी के साथ मर्यादा और पुरुषों में उत्तम जैसे विशेषण, गुण जुड़े ही हुए थे। जब तक आंख और पांख सही रहे तो 'रावण रथी, बिरथ रघुबीरा' भी चल गया। ऐसा बेमेल युद्ध भी राम जीत गए। पर, आंख-पांख का संतुलन बिगड़ा नहीं कि उन्हीं के लाड़ले बेटों ने उनका घोड़ा, अश्वमेघ का घोड़ा रोक लिया था। पूरा जीवन लोगों से, एक से एक समर्पित भक्तों से घिरे रहने वाले राम का अंत अकेलेपन में हुआ। सन्नाटे में हुआ। सरयू नदी में जल समाधि से हुआ। शायद ऐसी ही अनंत घटनाओं को देख दुनिया का खेला की तुक 'मैं हूँ अकेला' से जोड़ते रहे हैं कवि लोग।

श्रीकृष्ण की लीला तो लीला ही है। लीला अपरंपार। पर देखें कि वे अपनी छोटी-सी उंगली से इंद्र का क्रोध निपटा देते हैं, गोवर्धन उठा कर किसी और के बसाए गए गांव को बाढ़ से बचा लेते हैं। पर उनकी खुद बसाई भव्य नगरी द्वारिका समुद्र में डूब जाती है। उसे वे बचा नहीं पाते।

अपिच:। संस्कृत नाटकों में उदाहरणों के बाद और उदाहरण देते समय अपिच: कहा जाता है। तो वह भी सुन लें। जिसने महाभारत के युद्ध में दोनों तरफ से तरह-तरह से शक्ति-मंत्र-पुष्ट तीरों की वर्षा सह ली हो, वह जरा नाम के- नाम पर ध्यान दें- जरा नामक बहेलिए के मामूली तीर से अपने प्राण गवां देता है। दुनिया का खेला, कृष्णजी भी अकेला।

तो इस शानदार खेला में किसी भी चीज की कमी नहीं- इसमें से चाहे जितने किस्से निकाल लो, चाहे

जितने किस्से इसमें जोड़ दो- यह उपनिषद् के शब्दों में हमेशा पूर्ण ही बना रहता है।

गन्ना रस

नाटक में नौ रस हैं, दुनिया के खेला में भी नौ रस तो हैं ही भाई पर इनमें नाटकों के अतिरिक्त एक रस और जुड़ गया है। आप सब भी हैरान होंगे कि नौ के दस कैसे हो गए। इस रस का नाम है- गन्ना रस! गन्ने का रस भी मिल जाता है। कैसे? आपने गन्ने का रस ठेले पर सामने खड़े होकर पिया ही होगा। पहले साबुत गन्ना डालते हैं। फिर एक बार रस निकल आया तो उस गन्ने को दो बार मोड़ कर फिर रस निकाला जाता है। फिर तीसरी बार दो के बदले तीन-चार बार मोड़कर अदकर, नींबू लगा कर फिर निचोड़ा जाता है। जब तक इन सारे छिलकों का रस न निकल जाए- दुकान वाला रुकता ही नहीं।

इस खेले की दुकान वाला भी हम सब का रस कभी-कभी इसी शैली में निकालता है। दो-चार रसों में

अनगिनत अभिनेता, नायक, एक से बढ़ कर एक किस्से-कहानियां, वो भी रोज जुड़ने वाली और पूरी धरती पर फैला शानदार रंगमंच। इस खेला में दर्शक, अभिनेता का अंतर भी मिट जाता है। कभी हम अभिनय करते हैं तो कभी हम अभिनय देखते रह जाते हैं।

गन्ना रस देख ही लें हम। दुख से शुरु करें। करुण रस है नाटक में। और इस खेला में पेश है एक नमूना।

कोई साठ बरस पहले की बात है। एक बांसुरी वादक थे। श्रेष्ठ पहले दर्जे के कलाकार। शायद उन दिनों

रेडियो पर भी बांसुरी बजाते थे। प्लेग फैली। परिवार में इनको मिलाकर सात सदस्य थे। पत्नी मरी रोग से। बहुत ही प्रेम करते थे। अर्थी उठा श्मशान गए। लौटते हुए सारे रास्ते रोते रहे। संभाला मुश्किल से। घर आए तो पिता मरे मिले। सूरज ढल गया था। रात भर शरीर घर में रहा। ये सामने बैठे रोते रहे। सुबह उनका संस्कार किया। लौटे तो मां जा चुकी थीं। एक-दो-तीन। अब आंसू रुक गए थे। वे स्तब्ध मौन हो गए। अगले तीन दिनों में तीन बचे सदस्य और गए। अंतिम सदस्य को अग्नि देने के बाद इनका न सिर्फ मौन टूटा, ये तो जोर-जोर से हंसने लगे थे: अरे, बंसीवाले तू मेरी परीक्षा लेना चाहता है। ले ले। मैं भी सब कुछ छोड़ वृंदावन आता हूँ। तेरी परीक्षा लेने। पूरी जिंदगी फिर वे वृंदावन की गलियों में घूमते हर छोटे-बड़े मंदिर के सामने बांसुरी बजाते जाते।

हास्य रस में भी गन्ने का रस मिलेगा। लीजिए एकदम ताजी चीज। नेलसन मंडेला का किस्सा है अभी

कुछ दिन पुराना। आजादी की अद्भुत लड़ाई लड़ी। हममें से कुछ की आधी उमर के बराबर वर्ष जेल में काटे। देश को आजादी दिलाई। फिर राष्ट्रपति भी बने। पूरी दुनिया में 95 के पूरे होने पर उनका जन्मदिन मनाया गया था और इसी सबके बीच उनके शहर की नगरपालिका ने उनके ऊपर बकाया बिजली-पानी का बिल भेज दिया है- दंड समेत कुछ लाख रुपए का।

कुछ हजार वर्ष बरस पीछे लौटें। सौ साल जिओ, 'जीवेत् शरदः शतम्' का आशीर्वाद सबने सुना। मृच्छकटिकम् नाटक में नायक-नायिका का नाम व उनके किस्से कई लोग जानते ही हैं। नाटक में एक चोर है शर्विलक। नायक के घर में चोरी के लिए सेंध मार कर घुसा है। विदूषक को सोता देख आशीर्वाद देता है: मैत्रेय, स्वपिहि वर्षशतम्। भैया इसी तरह सौ बरस सोते रहना।

वीभत्स रस के भयानक उदाहरण तो इस खेले में भरे पड़े हैं। कभी का भी, कहीं का भी अखबार उठा लें- हंसते खेलते, खाते-पीते विज्ञापनों के बीच पूरा अखबार इसी से भरा मिलता है।

पर वीभत्स रस का किस्सा सुनना ही हो तो जनरल नैकेड बट का सुन लें। अफ्रीका का पश्चिमी-दक्षिणी छोर- लायबेरिया नाम का देश। वर्षों तक गृह युद्ध चला है यहां। इसमें एक पक्ष का सेनापति था जोशुआ। इसने अपने विरोधियों को मार कर उनके जिगर को काटकर नाश्ता भी किया है। पांच-सात बरस के बच्चों तक की सेना बना डाली। इन बच्चों को युद्ध में घसीटने के लिए वह सबसे पहले बच्चों से उनके माता-पिता की ही हत्या करवा लेता था। यह विचित्र सेनापति दूसरे पक्ष पर हमला करते समय बस पैर में सैनिक वाले भारी भरकम जूते पहनता, हाथ में आग उगलती बंदूक, अंग पर कोई कपड़ा नहीं इसलिए संयुक्त राष्ट्र संघ आदि की दुनिया में इसका दूसरा नाम पड़ गया था जनरल नैकेड बट, नंगधड़ंग सेनापति। जोशुआ ने अपने ही 20,000 लोगों को मारा था, वहीं के लोग, शायद कबीला, जाति अलग थी और शायद बोली भी। सभी देशों में नवनिर्माण की यही परिभाषा है आजकल! अब इस वीभत्स रस में एकदम से अद्भुत रस जुड़ता है।

खून से सने शिखर पर खड़े जोशुआ को बंदूकों की कानफोड़ आवाजों के बीच न जाने कहां से अंतरात्मा की आवाज सुनाई पड़ जाती है। वह बंदूक फेंक देता है। चल पड़ता है तीर्थ यात्रा पर। तीर्थ कौन सा? वे सब मुहल्ले, घर

जिनमें घुस-घुस कर उसने लोगों को मारा था। उनका जिगर परिवार के लोगों के सामने ही काट कर खाया था। सलाहकारों ने समझाया, ऐसा मत कर भूल कर भी। लोग छलनी बना देंगे तुम्हारी। इन रसों में अब वीर रस जुड़ता है एक नए रूप में। जोशुआ किसी की नहीं सुनता, बस अंतरात्मा की सुनता है। गजब की हिम्मत। अब वह निहत्थे, सचमुच अपनी आत्मा के बल पर उनके बीच जाकर हाथ जोड़ कर अपने पाप का प्रायश्चित्त करता है। उस पर कहीं भी हमला नहीं होता। वह लोगों के पैर छूता, खुद रोता, दूसरे रोते।

हमारे ही देश के एक युवा फोटोग्राफर भी कोई कम हिम्मत नहीं दिखाते। उनका नाम है - रॉयन लोबो। वे भी इसके पीछे-पीछे कैमरा लेकर फिल्म बनाते हैं। ये है दुनिया का विचित्र खेला।

गांधी के सैंडल

क्रोध में किसी पर चप्पल जूते फेंकना अब कोई नई बात नहीं बची है। जूता फेंकने वाला भी क्रोधी, जिस पर फेंका वह भी आग बबूला। पर एक खेला 1914 में दक्षिण अफ्रीका में खेला गया। जनरल स्मट्स उस समय पूरी दुनिया में फैले ब्रितानी साम्राज्य के सबसे बहादुर, सबसे कुशल, सबसे योग्य, सबसे सख्त और सबसे क्रूर प्रशासक माने जाते थे। खुद गांधीजी जैसे विनम्र व्यक्ति के शब्दों में वे सबसे धूर्त लोगों में गिने जाते थे। दक्षिण अफ्रीका में प्रारंभ हुए सत्याग्रह में इन दोनों के कड़वे प्रसंग कई हैं। जनरल स्मट्स ने इनको जेल में डाला था। शायद वे गांधीजी को मार डालना चाहते थे। न जाने कब गांधीजी की तेज आंखों ने उनके पैर का नाप लिया और उन्हें एक सैंडल की जोड़ी अपने हाथ से बनाकर भेंट की। जनरल स्मट्स ने बाद में कभी लिखा था कि उनके पैर इस योग्य नहीं कि वे इतनी पवित्र सैंडलें पहन सकें। क्रोध रस शांत रस में बदला और फिर ग्लानि तक में।

ऊपर कहीं दुनिया के खेला की तुकबंदी 'अकेला' से की गई है। पर निवेदन है कि यह काम बस कवि पर ही छोड़ें। हम और आप इस खेला को ठीक से खेलना चाहते हैं तो 'अकेला' को अकेला ही छोड़ दें। दुकेला बनें। दूसरों का साथ लें, दूसरों का साथ दें। तिकेला, चौकेला से भी बढ़कर सौकेला जैसे नए शब्द ही नहीं, नए संबंध भी बनाएं। इस खेला को, भले ही वह आपको सौतेला बनाना चाहे, आप सौतेला न बनाएं। आगे बढ़ें, इस खेला को अपने गले लगा लें।

दुनिया का दादा अमरीका

संदीप

सीरिया पर अमरीकी हमले का खतरा तो फिलहाल टल गया है। लेकिन अमरीका को चौधराहट और दादागिरी का अधिकार किसने दिया है? दुनिया के सबसे ज्यादा खतरनाक हथियार तो अमरीका के पास ही हैं। हथियार उद्योग वहां का सबसे बड़ा उद्योग है। आशाजनक बात है कि खुद अमरीका-यूरोप में लाखों लोग युद्ध-विरोधी प्रदर्शन कर रहे हैं।

संदीप आशा परिवार, जनार्दनलालों के राष्ट्रीय समन्वय, सोशलिस्ट पार्टी (इंडिया) के प्रमुख नेता हैं। युद्ध, हथियारों और सांप्रदायिकता के खिलाफ लगातार सक्रिय हैं।

पता:

ए-893, इंदिरा नगर
लखनऊ-226016

फोन: 0522-2347365
09415022772

रूस के हस्तक्षेप से फिलहाल सीरिया पर हमला तो टल गया है। अमरीका ने रूस की मदद से सुरक्षा परिषद में प्रस्ताव पारित करवा सीरिया के रासायनिक हथियारों के जखीरे को समाप्त करना सुनिश्चित करा लिया है। किंतु सवाल यह है कि क्या वाकई में अमरीका का उद्देश्य इतना ही था कि सीरिया का रासायनिक निशस्त्रीकरण हो? सीरिया में एक अनुमान के मुताबिक एक लाख के ऊपर लोग वर्तमान में चल रहे गृह युद्ध में मारे जा चुके हैं और इससे दस गुना ज्यादा लोग देश छोड़ कर पड़ोसी देशों में शरणार्थी बन कर शिविरों में रहने के लिए मजबूर हैं। अन्याय और अत्याचार तो दुनिया में और जगह भी हो रहे हैं। उदाहरण के लिए फिलीस्तीन में तो लगभग रोजाना इजराइल के हमले होते रहते हैं। किंतु क्या अमरीका इतना न्यायप्रिय देश है कि 21 अगस्त, 2013 को यह खबर लगे ही कि सीरिया में रासायनिक हथियार का इस्तेमाल हुआ उसने तुरंत कार्रवाई का मन बना लिया?

असल में यह सबको स्पष्ट था कि अमरीका का मुख्य उद्देश्य सीरियाई राष्ट्रपति बशर अल असाद को सत्ताच्युत करना था। अमरीका जो ठान लेता है उसे पूरा किए बिना मानता नहीं। फिर क्या वजह है कि अमरीका रूसी प्रस्ताव को मान गया? हुआ यह कि सवाल यह खड़ा होने लगा था कि असाद के विरोध में अमरीका किसका समर्थन कर रहा है? असाद का विरोध करने वाले संगठित नहीं थे। उनमें कई विचारधाराओं के लोग व संगठन थे जिनमें कट्टरपंथी इस्लामिक संगठनों के अलावा अराजकतादी से लेकर आतंकवादी संगठन तक शामिल थे। अमरीका की दिक्कत

इसलिए बढ़ गई थी क्योंकि विरोधियों में अल-कायदा भी था। जिसको अमरीका अपना सबसे बड़ा दुश्मन मानता है उसी का वह समर्थन कर रहा था। अतः फिलहाल उसने पीछे हटना ही उचित समझा है और रूसी प्रस्ताव मान कर संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से कार्रवाई के लिए तैयार हुआ है। किंतु अमरीका संयुक्त राष्ट्र संघ को कितना मानता है यह सबने अफगानिस्तान और इराक पर हमलों के दौरान देखा है। इसलिए हम पूरी तरह से आश्वस्त नहीं हो सकते कि सीरिया पर खतरा टल ही गया है।

सीरिया के अंदर फिलहाल संयुक्त राष्ट्र संघ के विशेषज्ञ पहुंच गए हैं जो उसके 1000 टन रासायनिक हथियारों व इन हथियारों के निर्माण तंत्र को समाप्त कर रहे हैं। अमरीका इस बात से खुश होगा ही कि बिना युद्ध के वह जो चाहता था हो रहा है। किंतु सवाल यहां यह खड़ा होता है कि अमरीका को यह अधिकार किसने दिया कि वह किसी भी देश के अंदर घुसकर उसके खतरनाक हथियारों को समाप्त करवाए? इसका यह मतलब कतई नहीं कि सीरिया के हथियार खत्म नहीं होने चाहिए थे। जिस तरह से संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रस्ताव के बाद यह वैध कार्रवाई हो रही है वह तो स्वागत योग्य है। कम से कम अमरीका के अवैध हमले से तो बेहतर ही है। पर सबको मालूम है कि आज की तारीख में सबसे ज्यादा और सबसे खतरनाक हथियार अमरीका के पास हैं।

दुनिया में अमरीका का रक्षा बजट उसके बाद रक्षा पर सबसे अधिक खर्च करने वाले 12 देशों के बजट के योग से भी ज्यादा है, जिसमें चीन, रूस, फ्रांस, इंग्लैण्ड, भारत आदि

शामिल हैं। अमरीका को अपनी रक्षा के लिए इतना खर्च करने की कोई जरूरत नहीं है। किंतु विश्व का दादा बने रहने के लिए यह जरूरी है। यह इसलिए भी जरूरी है क्योंकि अमरीका का सबसे बड़ा उद्योग हथियार उद्योग है। उसके बजट का एक बड़ा हिस्सा शोध पर खर्च होता है। अमरीका के सभी बड़े विश्वविद्यालयों के विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभागों में काम करने वाले ज्यादातर वैज्ञानिक व अभियंता हथियार निर्माण से जुड़े किसी प्रोजेक्ट पर शोध कर रहे होते हैं। कल्पना करें यदि अमरीका शांति के रास्ते पर चल पड़ा तो वहां कितने लोग बेरोजगार हो जाएंगे? यह विडंबना है अमरीका की। अब यदि कोई देश संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रस्ताव लाता है कि अमरीका विश्व की सुरक्षा के लिए सबसे बड़ा खतरा बना हुआ है और उसके हथियार उसी तरह से समाप्त किए जाने चाहिए जैसे सीरिया के किए जा रहे हैं तो क्या होगा?

इस बात की कल्पना भी नहीं की जा सकती कि अमरीका की शक्ति को कोई चुनौती देगा। लातीनी अमरीका के कुछ देशों और ईरान को छोड़ कर दुनिया के ज्यादातर देश अमरीका पर कोई सवाल खड़ा करने की हैसियत नहीं रखते। भारत तो खैर इस समय अमरीका के सामने नतमस्तक है। हम अमरीका के पिछलग्गू बने हुए हैं।

किंतु, खासकर विकसित दुनिया में, अब हथियारों

और युद्ध का बड़े पैमाने पर जनता विरोध करने लगी है। इनकी निरर्थकता उन लोगों को सबसे ज्यादा समझ में आती है जो युद्ध में भाग लेकर लौटते हैं। ऐसे ही एक व्यक्ति हैं जॉन केरी। वे अमरीका के वर्तमान विदेश मंत्री हैं जो सीरिया मामले में अग्रणी भूमिका में हैं। वे वियतनाम से लौटने के बाद युद्ध का विरोध कर चुके हैं और आज भी अमरीका के अंदर परमाणु निशस्त्रीकरण की वकालत करने वाले बड़े नेताओं में गिनी-चुनी संख्या में जो लोग हैं, उनमें शामिल हैं। बराक ओबामा भी परमाणु निशस्त्रीकरण के घोषित समर्थक हैं। अमरीका में लाखों लोग युद्ध विरोधी प्रदर्शनों में सड़कों पर निकल कर आते हैं। यही हाल यूरोप व ऑस्ट्रेलिया का है। वियतनाम में युद्ध के खिलाफ पहले विश्वविद्यालय परिसरों में और फिर बाहर भी जो प्रदर्शन हुए थे, उनमें सबसे बड़े प्रदर्शन में 1971 में वाशिंगटन डी.सी. में कोई पांच लाख लोग शामिल हुए थे।

शायद अमरीका और विश्व की जनता ही अमरीका की सैन्य शक्ति को चुनौती दे सकती है। जिस तरह से युद्ध के खिलाफ और लोकतंत्र के समर्थन में भारी संख्या में लोग सड़कों पर निकलने लगे हैं इससे एक उम्मीद बंधती है कि विध्वंसक हथियारों पर आधारित शक्तियों से दुनिया को एक दिन आजादी मिल सकेगी।



चित्र 'लड़ाई से लगाव' से साभार

युद्ध या बुद्ध

अरविंद गुप्ता

सारी सरकारें
युद्ध और
हथियारी ताकत
का गौरवगान
करती हैं।
आधुनिक युग में
युद्ध के भयावह
पक्ष को उजागर
किया हिरोशिमा-
नागासाकी ने।
युद्ध-विरोधी
साहित्य अब हिंदी
में भी उपलब्ध है।
अमरीका की
युद्ध-लिप्सा के
पीछे पूंजीवादी-
साम्राज्यवादी
मजबूरी है।
लेकिन अमरीका
में युद्ध-विरोध की
भी शानदार
परंपरा है।

अरविंद गुप्ता ने कई
युद्ध-विरोधी पुस्तकों
का हिंदी में अनुवाद
किया है। शिक्षा, बच्चों
'और शांति के मुद्दों पर
वे लगातार काम करते
रहे हैं।

पता:

इंटर युनिवर्सिटी सेंटर
फॉर एस्ट्रॉनॉमी एंड
एस्ट्रॉफिजिक्स, पुणे
विश्वविद्यालय परिसर,
गणेशखिंड, पुणे-
411007

फोन- 020-25604602
arvindtoys
@gmail.com

1998 में बीजेपी की सरकार द्वारा किए गए पोखरण आणविक परीक्षण ने मुझे झकझोर दिया। लोगों ने इस अवसर पर खुशी जाहिर की, वैज्ञानिकों ने बढ़-चढ़ कर इसकी तारीफ की। संसद में इस उपलब्धि का जश्न मनाया गया। पर मेरा दुख और गहराया, 'लोगों के लिए अनाज, पेयजल, शौचालय, स्वास्थ्य, शिक्षा आवास आदि की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने में हमारे वैज्ञानिक पूर्णतः असफल रहे हैं। फिर ये फटाके बजा कर क्यों झूठी वाहवाही लूट रहे हैं?' यह प्रश्न मुझे बहुत दिनों तक सताता रहा।

तब मैंने युद्ध-विरोधी पुस्तकों की तलाश शुरू की। बुद्ध और गांधी के इस देश ने दुनिया को शांति और अहिंसा का अनूठा तोहफा दिया है। पर यहां युद्ध विरोधी पुस्तकों का पूरी तरह अकाल है। अपने यहां पाठ्यपुस्तकों से लेकर लोकप्रिय फिल्मी गीत सभी कुछ वीर रस में हैं- जो लड़ाई और दुश्मन को मारने की महिमा का बढ़ा-चढ़ा कर बखान करते हैं। बड़ी मुश्किल से जाकर मुझे 'सडाको और कागज के पक्षी' नामक एक पुस्तक मिली जिसका मैंने हिंदी में अनुवाद किया। यह कहानी सडाको नाम की जापानी लड़की की है। द्वितीय महायुद्ध में जब अमरीका ने हिरोशिमा पर अणु-बम फेंका तब सडाको दो साल की थी। उस समय तो वो बच गई पर 9 वर्ष बाद वो रक्त-कैंसर से गुजरी। अगर कोई आपसे कहे कि हिरोशिमा और नागासाकी में एटम बम से दो लाख मरे तो शायद आप पलक भी न झपकाएं। पर सडाको की मार्मिक कथा पढ़कर किसी पत्थर दिल व्यक्ति की आंखें जरूर डबडबा जाएंगी।

भारत के आणविक परीक्षण से संपूर्ण

भारतीय महाद्वीप में आणविक युद्ध की एक होड़ शुरू हुई। इसके विरोध में मैगसेसे पुरस्कार विजेता संदीप पांडे ने पोखरण से सारनाथ तक की एक शांति यात्रा निकाली जिसमें उन्होंने सडाको वाली पुस्तक की एक हजार प्रतियां बेची। यात्रा में एक जापानी अणु-युद्ध विरोधी कार्यकर्ता भी शरीक हुआ। उसने सडाको की पुस्तक को तुरंत पहचाना। उसकी मदद से हम तीन अन्य अणु-युद्ध विरोधी पुस्तकों को हिंदी में ला पाए। ये पुस्तकें हैं - 'हिरोशिमा की आग', 'शिन की तिपहिया साइकिल' और 'वफादार जानवर'। एटम बम की त्रासदी को जापान से ज्यादा और किसी मुल्क ने नहीं झेला है और तभी वहां सबसे संपन्न अणु-युद्ध विरोधी साहित्य रचा गया है। ये सभी पुस्तकें सच्ची घटनाओं पर आधारित हैं। 'वफादार हाथी' अब जापान में 75वें संस्करण में है। यह इसकी लोकप्रियता का सूचक है।

फुकुशिमा अणु बिजली कारखाने की त्रासदी के बाद जापान सरकार ने पिछले माह अपना अंतिम अणु बिजली संयंत्र भी बंद कर दिया है। जर्मनी की चांसलर अंजेलो मार्केल ने फुकुशिमा के बाद अपने सभी अणु बिजली कारखाने बंद करने का निर्णय लिया है। आज जर्मनी अपनी एक-तिहाई बिजली पवन और सूर्य की ऊर्जा से पैदा करता है। भारत में अणु ऊर्जा संबंधी चर्चाएं अभी भी एकतरफा हैं। भारत में आणविक नियामक संस्था तक स्वतंत्र नहीं है। भारत में एकमात्र अणु-ऊर्जा विरोधी पत्रिका 'अणुमुक्ति' नाम की डा.सुरेन्द्र गाडेकर और डा. संघमित्रा देसाई ने शुरू की थी, प्रकाशन बंद करना पड़ा है।

शांति पर दुनिया की एक अन्य नायाब पुस्तक है जिसका नाम 'द स्टोरी ऑफ

फरडीनैड और उसे मनरो लीफ ने लिखा है। 800 शब्द की इस कहानी ने दुनिया में एक अनूठा इतिहास रचा है। 1936 में पहली बार छपी इस युद्ध-विरोधी पुस्तक ने काफी तहलका मचाया। हिटलर ने इस पुस्तक पर पाबंदी लगाई। बहुत कम लोग ही इस बात को जानते होंगे कि यह गांधीजी की बेहद पसंदीदा पुस्तक थी। कहानी फरडीनैड नाम के एक बैल की है जो लड़ाई का अहिंसक विरोध करता है। शांति का संदेश फैलाने वाली इस पुस्तक का दुनिया की अस्सी से अधिक भाषाओं में अनुवाद हुआ है।

हिंदी में तीन महत्वपूर्ण युद्ध-विरोधी सचित्र पुस्तकों का उल्लेख जरूरी है। पहली पुस्तक है **'बेयरफुट गेन'** जिसे कीजी नाकावाजा ने लिखा है। नाकावाजा ने हिरोशिमा पर एटम बम को खुद गिरते हुए देखा था। वे उस समय 7 साल के थे। इस त्रासदी में केवल उनकी मां बची, बाकी पूरा परिवार शहीद हुआ। **'बेयरफुट गेन'** एक जबदस्त युद्ध-विरोधी कथा है। नाकावाजा के पिता को युद्ध का विरोध करने के आरोप में जेल में डाल दिया गया। पूरे समाज ने उनके परिवार का तिरस्कार किया।

दूसरी पुस्तक है- **'माऊस'** जिसे आर्ट स्पीगिलमैन ने लिखा है। आर्ट दुनिया के सर्वश्रेष्ठ ग्राफिक आर्टिस्ट हैं और 1992 में उनकी इस पुस्तक को पुलितजर पुरस्कार मिला। यह पुस्तक दूसरे विश्वयुद्ध और साठ लाख यहूदियों के कत्लेआम का सबसे सचित्र वर्णन है। कहानी आर्ट के पिता की है जिन्हें ट्रेब्लेन्का में सालों यातनाएं सहनी पड़ीं और जहां उन्हें लगातार गैस भट्टी में झोंके जाने का खतरा सताता रहा।

तीसरी और शायद सबसे महत्वपूर्ण पुस्तक **'लड़ाई से**



लगाव' जिसे जोइल आंद्रेज ने लिखा है। आंद्रेज एक प्रतिष्ठित अमरीकी विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र पढ़ाते हैं। पर बचपन में उन्होंने वियनतामी युद्ध-विरोधी मोर्चों में अपने माता-पिता के साथ जमकर भाग लिया था। **'लड़ाई से लगाव'** का उपशीर्षक है **'अमरीका क्यों युद्ध छोड़ने में असमर्थ है'**।

पुस्तक में अमरीका की विनाशकारी सैनिक ताकत का सविस्तर

उल्लेख है। अमरीका शुरु से ही बहुत ज्यादा युद्धों में उलझा रहा है। पैनाप्रहार करती और तथ्यों पर आधारित यह किताब अपने पक्ष में 145 सबूत पेश करती है। पुस्तक शुरु करने के बाद आप उसे पूरा पढ़े बिना रह नहीं पाएंगे। दो घंटों में खत्म होने वाली इस किताब को आप जल्दी भूल नहीं पाएंगे।

'लड़ाई से लगाव' 1992 में अमरीका द्वारा इराकी हमले के बाद लिखी गई थी। पुस्तक का उद्देश्य अमरीका द्वारा छोड़े गए युद्धों की सच्चाई से लोगों का अवगत कराना है। इस काम से मुख्यधारा का मीडिया हमेशा कतराता है। अक्सर युद्ध के समय मीडिया जंग का घोर समर्थक बन जाता है। पुस्तक युद्ध के पीछे अमरीका की असली मंशा को उजागर करती है।



अफगानिस्तान के बाद अमरीका ने इराक के खिलाफ एक नया युद्ध छेड़ा। वर्तमान में अमरीका सीरिया पर हमले की तैयारी में है। ऊपरी तौर पर तो अमरीका आतंकवाद और विनाश के अस्त्रों पर बंदिश लगाने की दुहाई देता रहा है। पर उसकी असली मंशा एकदम स्पष्ट है। एक ओर वह खाड़ी में पिटू सरकारें बनाकर अमरीकी और इजरायली

हितों को सुरक्षित रखना चाहता है। दूसरी ओर वह विश्व के दूसरे नंबर के तेल भंडार पर अपना नियंत्रण कायम करना चाहता है। सीरिया पर हमले के बचाव में रूस बीच में आया है। कुछ सुलह भी हुई है जिसमें सीरिया ने संयुक्त राष्ट्र के नुमाइंदों को रासायनिक हथियार सौंपने की मांग मानी है।

सीरिया आक्रमण को लेकर अमरीकी तेवर कुछ कमजोर पड़े हैं। कारण बाहरी और अंदरूनी दोनों हैं। सीरिया के मसले पर अंतरराष्ट्रीय समर्थन न मिलने के कारण अमरीका काफी अलग-थलग पड़ा है। अमरीकी जनता ने युद्ध की बहुत बड़ी कीमत चुकाई है। इसकी सबसे ज्यादा कीमत सैनिकों और उनके परिवारजनों को चुकाना पड़ी है। पर इससे बाकी जनता भी प्रभावित हुई है। सुरक्षा पर बेइतहा खर्च से सरकारी बजट लड़खड़ा गया है। उससे शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, परिवहन और पर्यावरण संरक्षण जैसे महत्वपूर्ण मद्दों पर खर्च में कटौती हुई है। साथ-साथ आतंकवाद पर युद्ध छेड़ने के बहाने सरकार पुलिस शिनाख्त कड़ी कर रही है और मानव अधिकारों का हनन करने पर तुली है।

अमरीका में युद्ध-विरोध की एक शानदार परंपरा है। यह युद्ध-विरोधी आंदोलन वर्तमान में मजबूती से उभर रहा है। वियतनाम से वापस लौटे सैनिकों ने पूरे देश को वहां हो रहे युद्ध की भयावह कहानियां सुनाई और उसे बंद करने के लिए संगठित होने की अपील की। अप्रैल 1971 में वियतनाम से लौटे एक हजार सैनिकों ने वाशिंगटन की कैपिटल बिल्डिंग के सामने एकत्रित होकर युद्ध में मिले मेडल्स और तमगों को वापस फेंका। युद्ध-विरोधी आंदोलन के साथ-साथ अफ्रीकी-अमरीकनों, लैटिनों, अमरीकी आदिवासियों, महिला आंदोलन और अन्य दलित आंदोलनों ने भी अन्याय के खिलाफ लोगों की आंखें खोलीं। जोरदार युद्ध-विरोधी आंदोलन के कारण अमरीकी सरकार को वियतनाम से हटना पड़ा। इस युद्ध-विरोधी भावना को 'वियतनाम सिन्ड्रोम' का नाम दिया गया।

सोवियत रूस के पतन और शीत युद्ध की समाप्ति के बावजूद अमरीका आणविक हथियारों का विकास कर रहा है। उसने आणविक मिसाइलों और परीक्षणों को रोकने वाली संधियों का बहिष्कार किया है। इसलिए अन्य देश भी अमरीका की नकल करने को मजबूर हैं। इस वजह से आज पूरे भारतीय महाद्वीप पर भी एक आणविक युद्ध का साया छाया है। आज पृथ्वी का कोई कोना सुरक्षित नहीं है। 'लड़ाई से लगाव' पुस्तक अमरीका के खूनी इतिहास की जानकारी उजागर करती है। पुस्तक में यह भी दिखाया गया कि किस तरह अमरीकी नीतियां चंद ठेकेदारों और राजनेताओं को मालामाल कर रही हैं और आम जनता को कंगाल बना रही हैं।

युद्ध अमरीकी मजबूरी है। अगर वहां मिसाइलों और शस्त्रों का उत्पादन बंद होगा तो वहां की अर्थव्यवस्था पूरी तरह लड़खड़ा जाएगी। इसलिए नए-नए शस्त्रों का निर्माण और उनकी खपत वहां की अर्थव्यवस्था के लिए नितांत

आवश्यक है। शस्त्रों की खपत के लिए अमरीका अपने देश से दूर दुनिया के किसी अन्य कोने में हमेशा युद्ध लड़ता या लड़वाता रहता है।

युद्ध विरोधी साहित्य

लड़ाई से लगाव

प्रकाशक- बैनयन ट्री बुक्स

1-बी, दूसरी मंजिल, धेनू मार्केट, इंदौर-452003

सडाको और कागज के पक्षी

हिरोशिमा की आग

वफादार हाथी

शिव की तिपहिया साईकिल

आखिरी पन्ना

इन पुस्तकों के प्रकाशक:- भारत ज्ञान विज्ञान समिति

बेसमेंट, यंग वीमेन्स होस्टल 2, जी ब्लॉक,

साकेत, नई दिल्ली-110017

ये तथा अन्य पुस्तकें वेबसाइट पर भी उपलब्ध हैं-

<http://www.arvindguptatoys.com/>

अंधेरे में रोशनी

कश्मीर उप्पल

यह एक सुखद आश्चर्य है कि देश के समय और परिस्थिति के अनुकूल एक साथ तीन पुस्तकें देश के सम्मुख आई हैं। वास्तव में, इन तीनों पुस्तकों में देश के वर्तमान को देश का संबोधन है। यह संबोधन इतना सामयिक है कि मानो देश के इतिहास पुरुष देश को उसका सही मार्ग दिखाने के लिए एक साथ उठ खड़े हुए हों।

‘धर्म और बर्बरता’, ‘साम्प्रदायिकता का जहर’, ‘जाति का जंजाल’ इन तीनों पुस्तकों के संपादक डा. रणजीत हैं। इन तीनों पुस्तकों को मानवीय समाज प्रकाशन की ओर से लोकभारती, इलाहाबाद द्वारा वितरित एवं प्रकाशित किया गया है।

‘धर्म और बर्बरता’ पुस्तक में सोलह लेखकों के कालजयी विचारों को सम्मिलित किया गया है। राधामोहन गोकुल का लेख है जो चंद्रशेखर आजाद और भगतसिंह जैसे क्रांतिकारियों के सैद्धांतिक गुरु तथा भारत में साम्यवादी दल की स्थापना करने वाले क्रांतिकारियों में से एक थे। वे कई ऐतिहासिक और शास्त्रीय उद्धरण देकर तर्कसंगत तरीके से अपनी बात साझा करते हैं।

हिन्दी के प्रतिष्ठित साहित्यकार आचार्य चतुरसेन शास्त्री की प्रसिद्ध पुस्तक ‘धर्म के नाम पर’ का एक अध्याय ‘धर्म और व्यभिचार’ शीर्षक से एक उल्लेखनीय लेख के रूप में प्रस्तुत है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री विश्व की अनेक सभ्यताओं में धर्म के नाम पर होने वाले भोग के काले इतिहास से हमें अवगत कराते हैं।

इसी तरह पंडित राहुल सांस्कृत्यायन, भगत सिंह, पंकज बिष्ट, तसलीमा नसरीन, मैत्रेयी पुष्पा, कात्यायनी आदि के लेख अपने समय से मुठभेंट करते हैं। जन आंदोलनों के राष्ट्रीय समन्वय के ‘देश बचाओ, देश बनाओ’ नामक प्रकाशित पुस्तका का संशोधित रूप उल्लेखनीय है।

दूसरी पुस्तक ‘जाति का जंजाल’ में सत्ताईस महत्वपूर्ण लेखकों के आलेख हैं। अनेक महत्वपूर्ण लेख अंग्रेजी से भी अनुवादित कर पुस्तक में सम्मिलित किए गए हैं। इनमें हमारे देश के ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप माने गए कई महत्वपूर्ण उद्बोधन भी सम्मिलित हैं।

इस समय पुस्तक में एक साथ आंबेडकर, राममनोहर लोहिया, सच्चिदानंद सिन्हा, संतराम, डी.आर. नागराज, योगेन्द्र यादव, रजनी कोठारी, धीरुभाई शेठ, रामशरण जोशी और विनोद शाही आदि अनेक महत्वपूर्ण विचारकों को पढ़ना अभूतपूर्व संयोग और अनुभव है।

लाहौर में 1936 में आयोजित जाति-पाति तोड़क मंडल के अधिवेशन की अध्यक्षता के लिए डा. भीमराव आंबेडकर को आमंत्रित किया गया था। उन्होंने अपना अध्यक्षीय भाषण पहली ही भेजा था, जिसकी कुछ बातों पर आयोजकों को आपत्ति हुई और डा. आंबेडकर को बुलाना रद्द हो गया। लेकिन यह अनपढ़ा भाषण ‘जाति का उन्मूलन’ डा. आंबेडकर की बुनियादी अवधारणा को स्पष्ट करता हुआ ऐतिहासिक लेख बन गया। इसे शामिल करने से यह पुस्तक महत्वपूर्ण बन गई है। इसकी चिंता



प्राप्ति स्थल

लोक भारती पुस्तक विक्रेता तथा
वितरक, 15-ए, महात्मागांधी
मार्ग, इलाहाबाद-1

डॉ. रणजीत, प्लेट नं. 201,
मल्टी सफायर अपार्टमेंट, पहली
मेनरोड, सुद्दागुटे माल्या, बेंगलूर
560029 फोन-9341556673

का विषय कोई जाति नहीं वरन् संपूर्ण मानवता है। डा. आंबेडकर समाज-विज्ञान की उस व्यापक पृष्ठभूमि का उल्लेख करते हैं जिसमें कोई एक जाति विशेष नहीं संपूर्ण समाज के सुधार की आवश्यकता है। डा. आंबेडकर समाज सुधार को भी दो अर्थ में व्यक्त करते हैं। एक पारिवारिक सुधार और दूसरा समाज का पुनर्गठन। डा. भीमराव आंबेडकर क्यों भीमराव आंबेडकर हैं? उनका यह उद्बोधन पढ़कर समझ में आता है।

डा. आंबेडकर अपने भाषण में कहते हैं कि धर्म, सामाजिक स्थिति और संपत्ति, ये तीनों प्रभुता के स्रोत हैं। आज के यूरोपीय समाज में संपत्ति की प्रमुखता है, किंतु भारत में धर्म और सामाजिक व्यवस्था का सुधार किए बिना आप आर्थिक सुधार नहीं कर सकते।

सच्चिदानंद सिन्हा स्पष्ट करते हैं कि जाति-विभाजन, धार्मिक विभाजन और वर्ग विभाजन से कही गहरा होता है। विडंबना यह है कि वर्गीय अनुभूति, जो ठोस आर्थिक आधार पर खड़ी होती है, सबसे सतही भी होती है। इसका कारण यह है कि वर्ग आदमी की आर्थिक परिस्थिति पर निर्भर करता है और इस वजह से आदमी की वर्गीय स्थिति सतत परिवर्तनशील रहती है।

डा. रणजीत के संपादन में प्रकाशित तीसरी पुस्तक 'सांप्रदायिकता का जहर' है। एक तरह से यह पुस्तक हमारे देश में सांप्रदायिकता के इतिहास पर केंद्रित है। इस पुस्तक में अंगरेजों के आने के बाद सांप्रदायिकता की राजनीति का खुलासा होता है। 1857 में हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिलकर अंगरेजी सत्ता का विरोध किया था। इसके बाद अंगरेजों की रणनीति हिन्दुओं और मुसलमानों की सभ्यता और संस्कृति को कई आधारों पर अलग दिखाने की रही है। भारत का 1947 का विभाजन सांप्रदायिक राजनीति की परिणति था जिसकी शुरुआत बंगभंग से हुई थी।

इस पुस्तक में महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, मौलाना अबुल कलाम आजाद, आचार्य नरेन्द्र देव, जयप्रकाश नारायण, डा. भीमराव आंबेडकर, डा. राममनोहर लोहिया, किशन पटनायक, प्रेमचंद, गणेश शंकर विद्यार्थी, कमलेश्वर, पुरुषोत्तम अग्रवाल, मधु किश्वर, डा. राम पुनियानी आदि के लेख हैं। इस सूची से ही स्पष्ट हो जाता है कि पुस्तक में सांप्रदायिकता की दोनों स्थितियों- 1947 के पूर्व एवं पश्चात की जांच पड़ताल की गई है।

इस पुस्तक में महात्मा गांधी कहते हैं कि जैसे मुसलमान मूर्ति का खंडन करने वाले हैं, वैसे हिंदुओं में

भी मूर्ति का खंडन करने वाला एक वर्ग देखने में आता है। गांधीजी के तर्कसंगत चिंतन की आज के नये संदर्भों में समझने की जरूरत पहले से कहीं अधिक है। गांधीजी का मानना है जैसे मैं गाय को पूजता हूँ वैसे मैं मनुष्य को पूजता हूँ। जैसे गाय उपयोगी है वैसे मनुष्य भी- फिर चाहे वह मुसलमान हो या हिन्दु।

मौलाना अबुल कलाम आजाद की सोच आज भी सामयिक है। अबुल कलाम आजाद कहते हैं कि यदि हममें से कोई ऐसा हिंदू है जो हजार वर्ष और उससे अधिक पहले की हिंदू जीवन पद्धति को वापिस लाना चाहता है तो वह केवल स्वप्न लोक में विचरण कर रहा है। इसी प्रकार यदि हममें से कोई मुसलमान अपनी उस अतीत कालीन सभ्यता और संस्कृति का पुनरुत्थान करना चाहता है जिसे मुसलमान एक हजार वर्ष पूर्व ईरान और मध्य एशिया से लाए थे तो वह भी स्वप्नलोक में विचरण करता है और जितनी जल्दी वह जाग जाए उतना ही अच्छा है।

'सांप्रदायिकता का जहर' पुस्तक कई चिंतकों के ऐसे विचारों से भरी पड़ी है जिन पर से चिंतन मनन नहीं हुआ है। इतिहास की राख के ढेर में आज भी वे प्रश्न ज्वलंत रूप से ढंके पड़े हुए हैं जो आज भी हमसे हमारा उत्तर पाने को खड़े हुए हैं।

आचार्य नरेन्द्र देव ने उसी समय देख लिया था कि धर्म के नाम पर खड़ी संस्थाएं सामंतों, राजाओं, जमींदारों और शहर के कुछ अनुदार मध्यम श्रेणी के लोगों की संस्थाएं रही हैं। ये संस्थाएं धर्म के नाम पर अपने वर्ग का स्वार्थ साधन करने, सरकारी नौकरियों और असेंबली में सीटें आदि प्राप्त करने के काम में लाई जाती रही हैं।

इस तरह डा. रणजीत द्वारा संपादित ये तीनों पुस्तकें हमारे वर्तमान को हमारे अतीत के आइने में देखने का एक प्रयास है। ये प्रश्न ही नहीं उठाती हैं वरन् आगे बढ़कर हमारा पथ प्रदर्शन भी करती हैं। आगामी चुनावों और एक नई राजनीति के विस्फोटक परिणामों के पूर्व ये पुस्तकें आंखों पर बंधी पट्टियों को खोलती हैं। ताकि अंधेरे समय में छलांग लगाने के पूर्व हम एक रोशनी से साक्षात्कार कर सकें।

हमारा यह दुर्भाग्य ही है कि जो सांप्रदायिक दंगे पहले शहरों तक सीमित थे, वे अब गांवों में होने लगे हैं। उत्तर प्रदेश से उठ रहे सवालियों के अंधेरे समय में इन पुस्तकों की रोशनी एक नया मार्ग दिखाती है। इन विचारों को जन-जन तक पहुंचाना भी सांप्रदायिकता के विरुद्ध लड़ाई में शामिल होना है।

एक सुनियोजित एकतरफा दंगा

नागरिक जांच रपट के अंश

मध्यप्रदेश के खिड़किया कस्बे में 19 सितंबर को मुसलमानों की बस्ती पर हमले व आगजनी की घटना पूरी तरह सुनियोजित थी। स्थानीय भाजपा विधायक के बेटे की भूमिका हर किसी भी जबान पर है। इससे भाजपा का चुनावपूर्व रोडमेप समझ में आता है। गरीबों, महिलाओं, बच्चों पर बिना कारण हुए जुल्म ने जो घाव पैदा किए हैं, क्या वे आसानी से भर पाएंगे?

जांच दल के सदस्य:

लज्जाशंकर हरदेनिया
योगेश दीवान
सुंदर खड़से
विजय कुमार
दीपक विद्रोही
आजम खान
उपासना बेहार

फोन: 09425301582
09424401469
09981773205

amrishherdenia
@hotmail.com

भारतीय जनता पार्टी पिछले लगभग दस वर्षों से मध्यप्रदेश में शासन कर रही है। वह लगातार ऐसे कदम उठा रही है जिनसे अल्पसंख्यकों में भय व्याप्त हो रहा है। इस दौर में भाजपा के सहयोगी संगठन भी अत्यंत मुखर व आक्रामक हो गए हैं। राज्य में संघ परिवार को अपनी मनमानी करने की छूट मिली दिख रही है।

दूसरी तरफ मध्यप्रदेश संघी आतंकवादियों की शरणस्थली व गढ़ के रूप में भी उभरा है। सुनील जोशी, प्रज्ञा सिंह ठाकुर, कालसांगरा, देवेन्द्र शर्मा, संदीप डांगे व अन्य हिंदुत्ववादी आतंकी, मध्यप्रदेश में बेखौफ अपना काम करते रहे।

मध्यप्रदेश में बिना सांप्रदायिक घटना घटे कोई भी महीना नहीं गुजरता है। खास तौर पर इंदौर, रतलाम, देवास, बुरहानपुर, खंडवा, हरदा, बैतूल, सागर, नीमच आदि जिले उन्मादी धार्मिक हिंसा का लगातार शिकार हुए हैं। 2005 से लेकर 2013 की प्रथम तिमाही तक प्रदेश में 965 साम्प्रदायिक घटनाएं घट चुकी हैं। सिर्फ 2012 में ही 89 घटनाएं हुईं और 92 मौकों पर हालात तनावपूर्ण बने जिनमें 9 व्यक्ति मारे गये व 241 लोग घायल हुए। इस दौरान सांप्रदायिक हिंसा के मामले में पूरे देश में प्रदेश शीर्ष स्थान पर है।

हाल ही में लोक सभा में दी गई जानकारी के अनुसार मध्यप्रदेश में 2009 से 2012 के बीच कुल 432 सांप्रदायिक घटनाएं हुई हैं। इस दौरान मध्यप्रदेश देश में तीसरे स्थान पर रहा है।

19 सितम्बर 2013 को हरदा जिले के खिड़किया नगर पंचायत में हुई सांप्रदायिक हिंसा भी इसी सिलसिले की एक कड़ी जान

पड़ती है।

दिनांक 27 सितम्बर 2013 को भोपाल से एक 6 सदस्यीय स्वतंत्र जांच दल ने खिड़किया का दौरा किया। इस छः सदस्यीय टीम ने खिड़किया में हुए साम्प्रदायिक दंगे के पीड़ितों के अतिरिक्त वहां के पत्रकारों, सामाजिक कार्यकर्ताओं व पुलिस अधीक्षक आदि से मुलाकात की।

खिड़किया मध्यप्रदेश के हरदा जिले के भीतर एक नगर पंचायत है जिसकी आबादी लगभग 25,000 है। आबादी का एक तिहाई हिस्सा मुस्लिम संप्रदाय से आता है। नगर पंचायत में 15 वार्ड हैं, जिसमें वार्ड क्र.14 (छीपाबड़) सबसे अधिक सांप्रदायिक हिंसा का शिकार हुआ है। वार्ड क्र. 14 में लगभग 90 प्रतिशत से अधिक मुस्लिम आबादी है। अन्य वार्डों मिली-जुली आबादी है। वार्ड क्र.12, 13, 14 के ज्यादातर परिवार नर्मदा नदी पर इंदिरा सागर बांध बनने के कारण हरसूद से विस्थापित होकर यहां आ के बसे हैं। इन परिवारों को अभी तक पट्टे प्रदान नहीं किए गए हैं। वे खेती व मजदूरी करके अपना गुजर-बसर कर रहे थे।

घटना दिनांक 19 सितम्बर 2013 दिन गुरुवार सुबह 9 बजे की है जिसमें एक मुस्लिम खेतीहर परिवार ताज खान, नियाज खान के यहां काम करने वाले कालू कोरकू आदिवासी ने एक बछड़े को बार-बार खेत चरने के कारण डंडों से पीटकर भगा दिया। बाद में कथित तौर पर उस मवेशी की मौत हो गई। देखते ही देखते छीपाबड़ व खिड़किया इलाके में मुस्लिम व्यक्तियों द्वारा गाय को मारकर फेंकने की खबर फैला दी गई। कुछ समय बाद बजरंग दल, विश्व हिंदू परिषद व गौ-रक्षा कमांडो

फोर्स के सदस्यों ने एक कटी हुई गाय को ट्रेक्टर पर रखकर होशंगाबाद-खंडवा राजमार्ग पर स्थित छीपाबड़ के महाराणा प्रताप चौराहे पर चक्का जाम कर दिया। देखते ही देखते 4-5 हजार लोगों की भीड़ चौराहे के इर्द-गिर्द इकट्ठा हो गई और जोर-जोर से मुस्लिम समुदाय के विरोध में भड़काऊ नारे लगाने लगी। उन्मादी भीड़ 1 बजे के आसपास दो हिस्सों में बंट गई। कुछ लोगों ने मस्जिद के इमाम हाफिज शौकत से मारपीट कर मस्जिद में तोड़-फोड़ की तो वहीं दूसरी ओर वार्ड क्र.14 छीपाबड़ में जाकर 20 से 25 घरों को आग के हवाले कर दिया। दंगाइयों ने लगभग 30 दुपहिया वाहन, एक जीप और एक मेटाडोर को जलाकर खाक कर दिया। इस बीच हरदा कलेक्टर रजनीश श्रीवास्तव व एस.पी. दीपक वर्मा घटना स्थल पर पहुंचे तो उनको भी दंगाइयों ने खदेड़ दिया व उन पर पत्थरों से हमला किया।

हालांकि पुलिस अधीक्षक व कलेक्टर के घटना स्थल पर पहुंचने के बाद लगभग शाम 4 बजे कर्फ्यू लगा दिया गया। इस बीच हालात को नियंत्रण में करने के लिए पुलिस को हवाई फायरिंग भी करनी पड़ी जिससे 3 लोग छर्रे लगने से लहुलूहान हो गए थे। लगभग 30-35 लोगों की गिरफ्तारी भी की गई। अंततः स्थिति काबू में आने के बाद 23 सितम्बर को कर्फ्यू हटा लिया गया था।

पीड़ितों की कहानी, उन्हीं की जुबानी

जांच दल सबसे पहले खिड़किया के छीपाबाड़ा वार्ड नं. 14 में पहुंचा जहां लोगों के घर जलाए गए थे।

वहां बैठे व्यक्ति से बात की गई तो उन्होंने हमें बताया कि उनका सारा घर जला दिया गया है। करीब 4-5 साल की बच्ची जो कपड़े भी नहीं पहने थी वह अपने पिता की बात सुनकर घर से जली हुई चारपाई के टुकड़े लाकर दिखाती है। बाद में वह व्यक्ति बताता है कि मेरे घर का सारा सामान जल गया है। मेरी लड़की के कपड़े भी जल

गए। हम लोग उस दिन जान बचाकर भागे नहीं तो ये लोग हमको भी जलाकर मार देते।

इस बीच जांच टीम के एक साथी ने उससे सवाल किया कि क्या आप मुसलमान हैं? उस व्यक्ति ने कहा नहीं मैं हिंदू हूँ, मेरा नाम गोपाल है, मैं लोहार का काम करता हूँ। किसी से कोई बैर नहीं है हम तो मजदूरी करके खाने वाले लोग हैं। टीम के सदस्य ने फिर पूछा कि जिन लोगों ने आपका घर जलाया उन्हें पता नहीं था कि आप हिंदू हैं? गोपाल बोला कि जो घर जलाने आए थे वे सब बाहर के थे। उन्हें नहीं पता था कि यहां हिंदू के घर कौन से हैं, मुसलमान के कौन से? वे इस पूरे मोहल्ले को ही मुसलमानों का मोहल्ला समझ रहे थे।

इस दौरान मोहल्ले के लोग बड़ी संख्या में जमा हो जाते हैं। हम शेख रहिम वल्द करीम खान से मिले। उन्होंने बताया कि 2002-2003 से हम लोग यहां रह रहे हैं। हम 85 परिवार हरसूद में इंदिरा सागर बांध बनने के कारण विस्थापित होकर यहां बसे हैं। हम लोगों के यहां के सभी लोगों से मधुर संबंध हैं। लेकिन 19 सितंबर को यहां जो हुआ वह दुखद है। 11.30 बजे बाहर के करीब 4000-5000 लोगों ने हमारे मुहल्ले पर हमला कर दिया। मस्जिद में तोड़-फोड़ की गई। कुरआन फेंका गया। मस्जिद में इमाम साहब की पिटाई की गई और उनकी पत्नी के साथ भी मारपीट की गई। भीड़ में लोग गाली गलौच कर रहे थे और खुले आम तलवार, तमंचे लहरा रहे थे।

अगला घर मुलाब बी पति हमीद खां का था। जब यह घटना हुई, वह सोयाबीन काटने गई थी। इस घटना में

मुलाब बी का घर जला दिया गया। उसके आंसू थमने का नाम नहीं ले रहे थे। उसने बताया कि आठ महीने पहले मेरा लड़का खत्म हो गया। परिवार में केवल बहू और उनकी दो बच्चियां हैं। अब इनका पालन पोषण कैसे होगा? मुलाब बी बताती हैं कि उसके पास पहनने के कपड़े भी नहीं हैं, सब जला दिए गए हैं। अभी मुलाब बी

भाजपा की सीधी भागीदारी के फोटो मौजूद हैं

यह दंगा एक सोची समझी साजिश का हिस्सा था। प्रमुख आरोपी सुरेंद्र राजपुरोहित उर्फ टाईगर को कुछ माह पहले इसी काम के लिए राजस्थान से लाया गया था। बगल के खंडवा जिले के दंगे में भी उसका हाथ था। उस दिन हिंसा, तोड़फोड़ व आगजनी में टाईगर, विधायक पुत्र सुदीप पटेल और विधायक प्रतिनिधि शिवनारायण साध के पुत्र जितेंद्र साध ने खुलकर भाग लिया। इसके फोटो भी मौजूद हैं। इसके पहले कई मौकों पर भाजपा के कार्यक्रम में टाईगर को भाजपा विधायक कमल पटेल के साथ होने के फोटो भी हैं। इन फोटो को उच्च न्यायालय में दाखिल एक याचिका में भी लगाया गया है। टाईगर को पुलिस ने पकड़ लिया था। लेकिन फिर राजनैतिक दबाव में छोड़ दिया गया। छीपाबड़(खिड़किया) थानेदार खुद उसे सुरक्षित ट्रेन में बैठाकर आया। दंगे से एक दिन पहले विधायक कमल पटेल ने क्षेत्र का दौरा किया था।
-समाजवादी जन परिषद जांच दल की रपट से

और उसका परिवार रिश्तेदारों के यहां खाना खाकर जीवन यापन कर रहा है।

शाहिद वल्द हब्बू खान ने बताया कि उनके पास 2 हेक्टेयर 21 डेसीमल जमीन है जिस पर उनका परिवार आश्रित है। घर में खेती के लिए एक ट्रैक्टर था जिसे दंगाईयों ने जला दिया है। वह बताते हैं कि दंगे के दिन पेट्रोल पंप पर दंगाईयों का कब्जा था और वहां से बाटलों में पेट्रोल ला-लाकर घरों में आग लगा रहे थे। जब हमारा घर जलाया गया तब औरतें घर के अंदर ही थीं। जब उन्होंने आग लगी देखी तो जैसे-तैसे वे यहां से भागी। शाहिद बताते हैं कि दंगाईयों ने स्कूल में जाकर मुस्लिम समुदाय के बच्चों को मारने का प्रयास भी किया पर स्कूल के शिक्षक की समझदारी से वे सफल नहीं हो पाए। शाहिद और दूसरे लोग अब बच्चों को स्कूल भेजने से भी डर रहे हैं। वह कहते हैं कि हमारे बच्चे अब पढ़ाई नहीं करेंगे।

रहिमा बी ने बताया कि 5 साल पहले उनके पति की मौत हो गई है। उनके दो बच्चे हैं। दंगाईयों ने उनका भी घर जला दिया है और घर में लूटपाट भी की गई है। उनके यहां से सोने की झुमकी और चार हजार रुपए की लूट हुई है। जब घर जल रहा था तब दंगाईयों ने फायर ब्रिगेड तक नहीं आने दी। उसे रोड पर रोक कर रखा और उसका टायर पंचर कर दिया। जब सब जल गया उसके बाद फायद ब्रिगेड आई।

शब्बीर खान वल्द शकूर खान किराए की दुकान है और वो मोबाईल में बैलेंस डालने का काम भी करते हैं। इनकी दुकान पर दंगाईयों ने धावा बोला और बैलेंस के कार्ड और मोबाईल फोन लूट के ले गए। शब्बीर इस दुकान के अतिरिक्त कबाड़ बेचने का काम करते हैं। वे बताते हैं कि उस दिन वह सामान बेचने गए थे। वहां उन्हें कुछ लोगों ने घेर लिया और मारने की कोशिश करने लगे तब स्थानीय संतोष लोहार ने उन्हें उपद्रवियों के चंगुल से बचाया और रात खाना खिलाकर अपने घर ही रखा।

भूरी पति अजीज खान ने बताया कि उनके घर में आग लगा दी गई। उसके बाद परिवार के पांच सदस्यों अजीज, रफीक, हमीद, शरीफ व वकील की राड डंडों से पिटाई की गई। चोटें इतनी गंभीर हैं कि इन्हें भोपाल के हमीदिया अस्पताल में भर्ती करवाया गया है।

समूह में चर्चा के दौरान लोगों ने बताया कि दंगे के

दौरान स्थानीय भाजपा विधायक कमल पटेल का पुत्र सुदीप पटेल तलवार लेकर आगे चल रहा था और भीड़ का नेतृत्व कर रहा था। उसके अन्य साथी गोलू (किराना दुकान वाला) पेट्रोल की बाटल लोगों के घर पर फेंक रहा था। लोगों का कहना था कि कमल पटेल ने इस घटना को पूरा संरक्षण प्रदान किया है। पेट्रोल पंपों से पेट्रोल का वितरण कमल पटेल के इशारों पर ही किया।

महिलाओं से बातचीत

जांच दल ने महिलाओं से भी चर्चा की। महिलाओं ने बताया कि जब ये दंगाई आए तो बस्ती में उस समय जो भी लोग थे वे सभी खेतों की ओर भागने लगे। शेष बची महिलाएं दंगाईयों से उनके घरों को लूटने और आग लगाने को मना करती रही परंतु दंगाईयों ने उनकी एक ना सुनी और घरों में घुस कर वहां रखे सभी सामानों को तोड़ा। जो भी कपड़े मिले उनमें आग लगा दी। घरों में रखे पैसे व गहने लूट लिए। कुछ दंगाइयों को बच्चों और महिलाओं के छिपने वाले घर का पता चल गया। उन्होंने उस घर के दरवाजे को बाहर से बंद कर उसमें आग लगा दी और चले गए। उनके जाने के कुछ देर बाद उस मकान के दरवाजे को खोल कर इन बच्चों और महिलाओं को सुरक्षित निकाला गया। महिलाओं ने बताया कि दंगाइयों ने खेतों में बहुत दूर तक उनका पीछा किया।

महिलाओं ने बताया कि वे बस्ती के पास के खेत में खुले में शौच करती हैं। रात में किसी को शौच जाना हो तो डर के कारण नहीं जा पाते हैं। खेत हिंदुओं के हैं, कहीं वो मार ना दें। दिन में भी कई महिलाएं एक साथ जाती हैं।

महिलाओं ने कहा कि जब से दंगे हुए हैं उसके बाद से कोई भी महिला बस्ती से बाहर निकली ही नहीं है। बस्ती में कई महिलाएं गर्भवती हैं, उन्हें ना तो पेट भर कर खाना मिल रहा है ना ही वो जांच कराने के लिए अस्पताल जा पा रही हैं। लगातार तनाव भूखे रहने के कारण बच्चे, बड़े बीमार हो गए हैं।

स्थानीय पत्रकार से बातचीत

जांच टीम द्वारा पत्रिका अखबार के संवाददाता राजेश मेहता से बात की गई। राजेश ने बताया कि इस दंगे में स्थानीय विधायक के बेटे के शामिल होने की वजह से पुलिस ने कारवाई में देरी की। दंगों में बाहर के लोग शामिल थे। दंगा सुनियोजित था। दंगाइयों का एक दल पुलिस को

खदेड़ रहा था और फायर ब्रिगेड और एंबुलेंस जैसी सेवाओं को पीड़ितों तक नहीं पहुंचने दे रहा था। वही दूसरा दल लोगों के घर जलाने का और उत्पात मचाने का काम कर रहा था। राजेश ने यह भी बताया किया कि गाय की मौत पत्नी खाने से हुई है, यह बात पोस्टमार्टम रिपोर्ट में भी पाई गई है। लेकिन पूरी घटना का राजनैतिक लाभ प्राप्त करने के लिए कुछ संगठनों द्वारा यह प्रयास किया गया है।

पुलिस अधीक्षक से बातचीत

दीपक वर्मा, पुलिस अधीक्षक, हरदा ने हमें बताया कि गाय को लेकर मामला चालू हुआ था, लोग आक्रोशित थे। एक पेट्रोल पंप कर्मचारी को दंगे में शामिल होने के आरोप में गिरफ्तार किया गया है। इसके अलावा अन्य 30-35 लोगों की गिरफ्तारी की गई है। उन्होंने बताया कि हरदा जिले में अन्य जिलों की अपेक्षा पुलिस बहुत कम है इसके अलावा उस दिन हरदा पुलिस का एक हिस्सा बैतूल गया था जहां मुख्यमंत्री शिवराज सिंह आए हुए थे।

सुदीप पटेल के बारे में पूछे जाने पर एस.पी. ने बताया उसके खिलाफ कोई एफआईआर दर्ज नहीं की गई है क्योंकि अभी स्पष्ट नहीं हो पाया है कि वो शामिल था या नहीं?

पुलिस अधीक्षक ने बताया कि इस पूरे दंगे के पीछे

सुरेंद्र राजपुरोहित उर्फ टाईगर का हाथ है। वह राजस्थान के बाड़मेर जिले का रहने वाला है। उसने गौसेवा कमांडो फोर्स बनाई है। वह चारुवा में गौशाला में कार्य करता था। अभी वह गिरफ्त से बाहर है।

निष्कर्ष

1. यह स्पष्ट है कि 19 सितंबर को छीपाबड़ में हुई सांप्रदायिक हिंसा पूर्व नियोजित थी जिसका मुख्य मकसद अल्पसंख्यक समुदाय को आतंकित करना था। यह घटना मप्र की भाजपा सरकार व आरएसएस के फासीवादी राजनीतिक एजेंडा का हिस्सा थी जिसका चुनाव में हिंदू वोटों के धुवीकरण के लिए इस्तेमाल किया जा सके।

2. घटना के शुरुआत में ही स्थानीय पुलिस के सख्त रवैये से दंगा रोका जा सकता था। लेकिन स्थानीय विधायक व प्रशासन के दबाव में पुलिस कार्रवाई से बचती रही। इसमें पुलिस की भूमिका पर प्रश्न चिन्ह लगते हैं।

3. दंगे में स्थानीय विधायक के पुत्र सुदीप पटेल सहित बजरंग दल, विश्व हिंदू परिषद, गौ सेवा कमांडो फोर्स व आरएसएस ने सक्रिय भूमिका अदा की। इसके बावजूद सरकार के दबाव में पुलिस निष्पक्ष कार्रवाई से बच रही है।

चमचमाती दिल्ली की असलियत

सुनील कुमार

गांवों की लगातार उपेक्षा के कारण रोजगार के जो भी अवसर थे, खत्म होते जा रहे हैं। खेती की लागत लगातार बढ़ती जा रही है। किसानों की जमीन विभिन्न योजनाओं के तहत छीनी जा रही है। शासक वर्गों द्वारा यह सोची-समझी साजिश के तहत किया जा रहा है। जिससे शहरों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। पी. चिंदबरम जैसे लोग चाहते हैं कि भारत की जनसंख्या का 80 प्रतिशत हिस्सा शहरों में आ जाए (गांव की उपजाऊ जमीन पूंजीपतियों की हो जाएं)। जब गांव का किसान उजड़कर बेहतर जिंदगी की तलाश में शहर को आता है तो यहां आकर वह अपने को ठगा सा पाता है और उसके जीवन में कोई बदलाव नहीं आता है। अगर उसके जीवन में कुछ बदलाव आता है

तो वह यह कि जहां वे गांव की खुली स्वच्छ हवा में सांस लेते थे शहरों में आकर कबूतरखाने जैसे दड़बे में बदहाल जिंदगी जीने को मजबूर होते हैं। वापस गांव टीबी, पीलिया, चर्मरोग जैसी बीमारियों को लेकर जाते हैं और असमय काल के मुंह में समा जाते हैं। शहरों में इनका निवास स्थान झुग्गी-झोपड़ी या फुटपाथ होता है। इन स्थानों पर रहने वाले लोग अपमानजनक जिंदगी जीने के लिए मजबूर होते हैं। उनको चोर, पॉकेटमार, बलात्कारी, मूर्ख इत्यादि की उपाधि दी जाती है।

2011 की जनगणना के अनुसार दिल्ली की जनसंख्या 1,67,53,235 है। दिल्ली की 25 प्रतिशत जनसंख्या झुग्गियों में रहती है जो कि दिल्ली के क्षेत्रफल

का मात्र आधे प्रतिशत में स्थित है। दिल्ली शहर 1,48,400 हेक्टेयर क्षेत्र में फैला हुआ है। दिल्ली शहरी विकास बोर्ड के अनुसार दिल्ली में 700 हेक्टेयर जमीन पर 685 बस्तियां बनी हुई हैं। इन 685 बस्तियों में 4,18,282 झुग्गियां हैं। सरकारी आंकड़े के अनुसार भारत में झुग्गी-झोपड़ियों में रहने वालों की जनसंख्या 4,25,78,150 है जिसमें दिल्ली में झुग्गी-बस्तियों की जनसंख्या 20,29,755 (सही आंकड़े 40 लाख से अधिक है) है। यूएनडीपी की मानव विकास रिपोर्ट 2009 में कहा गया है कि मुंबई में 54.1 प्रतिशत लोग 6 प्रतिशत जमीन पर रहते हैं। दिल्ली में 18.9 प्रतिशत, कोलकाता में 11.72 प्रतिशत तथा चेन्नई में 25.6 प्रतिशत लोग झुग्गियों में रहते हैं।

बस्तियों की झांकी

डॉ. आंबेडकर कैंप झिलमिल इंडस्ट्रियल ए और बी ब्लॉक के बीच में बसा हुआ है। सरकारी आंकड़ों में इस बस्ती में 850 झुग्गियां हैं और यह 8175 वर्ग मीटर में बसा हुआ है, यानी एक झुग्गी 10 वर्ग मीटर से भी कम जगह में। यह कैंप सन 1975 में बसा था लेकिन इस बस्ती का विस्तार 1990 तक हुआ।

पटना के रहने वाले सहजानंद यादव (55 वर्ष) कॉपर की फैक्ट्री में काम करते हैं। उनकी 6X6 फीट की झुग्गी है जिसकी ऊंचाई 7-8 फीट है। उनके कमरे के एक कोने में गैस का चूल्हा और दो-चार बर्तन हैं। गर्मी से राहत पाने के लिए एक छोटा सा पंखा है और मनोरंजन का कोई साधन नहीं। उनके घर में 3X6 फीट का एक तख्त रखा हुआ है जो कई जगह जला हुआ है। तख्त जलने के कारण पूछने पर बताया कि पहले यहां गड्ढा था और बारिश होने पर पानी झुग्गियों के अंदर आ जाता था तो हम लोग तख्त पर रखकर खाना बनाते थे। खाना बनाते समय तख्त जल गया है। उन्होंने बताया कि शुरु में चटाई से घेर कर झुग्गियां बनाई थी। जब वो ईंट की झुग्गी बनाने लगे तो एक सिपाही आकर पैसा मांगने लगा। सिपाही को पैसे का झूठा आश्वासन देकर उन्होंने अपनी झुग्गी बना ली। धीरे-धीरे मिट्टी भर कर जगह को ऊंचा किया और अब पानी नहीं लगता है। उन्होंने

बताया कि 1975 में नेपाली मूल के लोगों द्वारा सबसे पहले झुग्गी डाली गई और उनकी झुग्गी 1990 से वहां पर है।

संजीत कुमार (32 वर्ष) बिहार के जहानाबाद जिले के रहने वाले हैं। वे दस वर्ष से आंबेडकर बस्ती में रहते हैं। पहले वे कॉपर की फैक्ट्री में काम करते थे, अब वे बस्ती में दुकान चलाते हैं। दुकान तो उनकी अपनी झुग्गी में है और रहने के लिए दूसरी झुग्गी किराए पर ले रखी है। 10 वर्ष में कई बार राशन कार्ड बनवाने की कोशिश की लेकिन दिल्ली सरकार ने आज तक उनका राशन कार्ड नहीं बनाया। जबकि उनके पास मतदान पहचान पत्र है और वे वोट भी डालते हैं। शौच के लिए ज्यादातर लोग बाहर रेलवे पटरी पर जाते हैं। बस्ती में एक शौचालय है जिसमें 2 रुपए देकर शौच के लिए अपनी बारी का इंतजार करना पड़ता है।

भोला प्रसाद (42 वर्ष) भी बिहार के जहानाबाद के रहने वाले हैं। 1992 में इन्होंने झुग्गी खरीदी थी। इनकी भी झुग्गी 6X7 फीट की है। अभी इन्होंने अपनी झुग्गी के ऊपर एक और झुग्गी बना ली है जिसमें दोनों भाई रहते हैं। इनका परिवार गांव में रहकर मजदूरी करता है। भोला कॉपर फैक्ट्री में काम करते हैं जहां इनकी मजदूरी 6000 रुपए मासिक है। शौच के लिए बाहर रेलवे लाइन पर जाते हैं। घर में कोई मनोरंजन का साधन नहीं है। पानी के लिए दो बाल्टी हैं जिन्हें सुबह ही भर कर रख देते हैं ताकि रात में आने के बाद खाना बना सकें और पानी पी सकें।

अधिकांश झुग्गियां 6X6 फीट की हैं लेकिन कुछ बड़ी झुग्गियां 8X6 फीट की हो सकती हैं। ज्यादातर घरों में ब्लैक एंड व्हाइट टीवी है और किसी-किसी घर में कलर टीवी भी है। महिलाएं सुबह जल्दी उठ कर शौच के लिए बाहर जाती हैं और दिन के समय में शौचालय का इस्तेमाल करती हैं। बाहर शौच की हालत यह है कि तेज बारिश होने से ही उसकी सफाई होती है, नहीं तो शौच के ऊपर बैठ कर ही शौच करना पड़ता है।

बस्तियों में रोजमर्रा के कामों में शौचालय जाना और पानी भरना एक बड़ी समस्या है। महिलाओं को अंधेरे में इसलिए जागना पड़ता है कि वे पुरुषों के जागने



के पहले शौच से लौट कर आ जाएं। उसके बाद पानी की समस्या आती है। अगर किसी दिन पानी नहीं आए तो नहाना नहीं हो पाता है। ज्यादातर पुरुष कॉपर की फैक्ट्रियों में काम करते हैं। कुछ महिलाएं भी फैक्ट्रियों में जाती हैं। ज्यादातर महिलाएं घर पर ही पिन लगाने, स्टिकर लगाने जैसे काम करती हैं और पूरे दिन मेहनत करने के बाद भी 40-50 रुपए ही कमा पाती हैं। बस्ती से कुछ लड़कियां स्कूल-कॉलेज जाती हैं तो कुछ परिवार के कामों में हाथ बंटती हैं। बस्ती की जिंदगी सुबह 4-5 से शुरू होती है और रात के 12-1 बजे तक चलती रहती है।

दिल्ली की झुग्गी बस्तियों में आधे प्रतिशत जमीन पर 25 प्रतिशत जनसंख्या निवास करती हैं। अगर अनाधिकृत कालोनियों (कच्ची कालोनियों) को मिला दिया जाए तो जनसंख्या करीब 65 प्रतिशत पहुंचती है। दिल्ली नगर निगम द्वारा सुप्रीम कोर्ट में दिए गए हलफनामे के अनुसार 49 प्रतिशत लोग अनाधिकृत कालोनियों व बस्तियों में रहते हैं जबकि 25 प्रतिशत लोग ही योजनाबद्ध तरीके से बसाई कालोनियों में रहते हैं।

बार-बार उजड़ना

मुंबई का धारावी हो, कोलकाता का नोनाडांगा या दिल्ली की आंबेडकर बस्ती, इन बस्तियों में रहने वालों ने शहर को बनाया और उन्हीं की बदौलत साफ-सफाई के काम, कल-कारखाने, मोटर-गाड़ियां आदि चलते हैं। जब इनके द्वारा एक हिस्से का विकास हो जाता है तो इनको उठा कर नरेला, बावना और भलस्वा जैसे कूड़ेदान में फेंक दिया जाता है कि अब वहां कूड़ा साफ करो। मानो इनकी नियति ही यही है कि कूड़े की जगह को साफ सुथरा करो फिर दूसरी जगह जाओ। जैसे कि भलस्वा में पुनर्वास बस्तियों को मात्र 10 साल का ही पट्टा दिया गया है। इन इलाकों में पीने के लिए पानी, बच्चों के लिए स्कूल तथा कोई रोजगार तक नहीं है। इनको रोजगार के लिए अपने पुराने क्षेत्र में ही जाना पड़ता है जहां आने-जाने में ही 4 घंटे का समय लगता है और मजदूरी का आधा पैसा किराए में चला जाता है। जब ये घर में ताला लगाकर चले जाते हैं तो इनके घरों के बर्तन तक चोर उठा ले जाते हैं। सरकार बाल श्रम मुक्त दिल्ली का ढिंढोरा पीटती है। लेकिन पुनर्वास बस्तियों के बच्चे कबाड़ चुनने, मंडी, चाय की दुकान, फैक्ट्रियों में काम करते हुए मिल जाएंगे- आप चाहें तो आजादपुर, जहांगीरपुरी जैसे क्षेत्रों में जाकर देख सकते हैं। इनकी बस्तियों के ऊपर कभी

भी बुलडोजर चला दिया जाता है। चाहे बच्चों की परीक्षा हो, बारिश हो या कड़कड़ाती ठंड, इनको उठाकर फेंक दिया जाता है जैसे कि इनके शरीर में हाड़-मांस न हो। इन बस्तियों को तोड़कर अक्षरधाम मंदिर, शापिंग कांप्लेक्स बनाए जा रहे हैं। जिन लोगों के घरों पर बुलडोजर चलाया जाता है उनसे बहुत कम लोगों (शासक वर्ग की जरूरत के हिसाब से) को ही पुनर्वास की सुविधा मुहैया कराई जाती है। जिन लोगों को पुनर्वासित किया भी जाता है तो कम जमीन का रोना रो कर 12 गज का प्लाट (इससे बड़ा तो लोकतंत्र चलाने वालों का बाथरूम होता है) दिया जाता है, जबकि मास्टर प्लान 2021 में कहा गया है कि 40-45 प्रतिशत जमीन पर रिहाईशी आवास होंगे। अगर इन 25 प्रतिशत आबादी को 2 प्रतिशत भी जमीन दे दिया जाए तो ये कबूतरखाने से बाहर आकर थोड़ा खुश हो सकते हैं।

इतनी बड़ी आबादी को आधे प्रतिशत जमीन पर रहना भी शासक वर्ग को नागवार गुजरता है। जब उनकी अनुचित कार्रवाई का जनपक्षीय संगठनों द्वारा विरोध किया जाता है तो दिल्ली हाईकोर्ट अपमानजनक टिप्पणी करते हुए कहता है- “इनको प्लॉट देना जेबकतरों को इनाम देना जैसा है।” कुछ तथाकथित सभ्य समाज के लोग कहते हैं कि इन बस्ती वालों के पास प्रिज, कूलर, टीवी, अलमारियां हैं- जैसे कि बस्ती में रहने वाले इंसान नहीं हैं, उनको इन सब वस्तुओं की जरूरत नहीं है। बस्ती में इस्तेमाल की जाने वाली ज्यादातर वस्तुएं सेकेंड हैंड (पुरानी) होती हैं। पुरानी वस्तुओं का इस्तेमाल कर ये लोग पर्यावरण को ही बचाते हैं। अगर आधे प्रतिशत जमीन का इस्तेमाल करने वाले पॉकेटमार हैं तो कई एकड़ में फैले फार्म हाऊस के मालिक क्या हैं? क्या दिल्ली हाई कोर्ट के पास उनके लिए भी कोई उपनाम है? बस्ती में जो पीढ़ियां समय गुजार चुकीं, बस्ती में ही बच्चे पैदा हुए, पले-बढ़े और उनकी शादी तक हो रही है तो क्या हम उनको वहां का निवासी नहीं मानते? जिस विकास को लेकर रात-दिन सरकार चिल्लाती है, जिसे सरकारी भाषा में जीडीपी कहते हैं वह मुख्यतः इन्हीं मेहनतकश जनता के बल पर होता है। इनके परिवार का एक सदस्य गांव में खेती-मजदूरी करता है तो दूसरा शहर में आकर मजदूरी का काम करता है। जब देश की आधी आबादी दो जून की रोटी की मोहताज है तो यह कैसा विकास है?

फोन 09868563361
sunilkumar102@gmail.com

राजधानी में नियमगिरि की गूंज

अतुल कुमार

नियमगिरि ओडिशा के कालाहांडी और रायगढ़ जिलों में फैली पर्वतमाला है, जहां बाक्साइट प्रचुर मात्रा में है। इस पर्वतमाला को ओडिशा सरकार और केंद्र सरकार बहुराष्ट्रीय कंपनी वेदांत को बेचना चाह रही थी। लेकिन 18 अप्रैल 2013 को सुप्रीम कोर्ट ने इस बारे में निर्णय दिया जिसमें स्थानीय जनता की राय जानने का निर्देश केंद्रीय वन एवं पर्यावरण मंत्रालय को दिया। इसी के तहत 1996 के पेसा कानून के तहत स्थानीय 12 गांवों में रायशुमारी की गई और सभी ने सर्वसम्मति से वेदांत को खनन का अधिकार देने के खिलाफ निर्णय किया। इस तरह विशाल कॉरपोरेट फर्म के पैसे और रौब की विशाल शक्ति और सरकारी ताकत गरीब आदिवासियों के सामने बौनी साबित हो गई। लेकिन इस घटना को मुकाम तक पहुंचाने के क्रम में निरंतर जुझारू आंदोलन चलाना पड़ा था। 2002 से ही, जब से नियमगिरि को वेदांत को सौंपने का निर्णय हुआ, स्थानीय स्तर पर आंदोलन शुरू हो गए थे।

गत 30 सितंबर को किशन पटनायक की पुण्यतिथि के अवसर पर समाजवादी जनपरिषद की दिल्ली इकाई की ओर से गांधी शांति प्रतिष्ठान में नियमगिरि आंदोलन के नेताओं का सम्मान किया गया। इस आंदोलन में शुरू से अनवरत संघर्षरत इन नेताओं ने अपने विचार व्यक्त किए और आंदोलन के अनुभव साझा किए।

अगले दिन यानी 1 अगस्त को जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में विद्यार्थी युवजन सभा की ओर से भी सम्मान समारोह का आयोजन किया गया। इस अवसर पर आंदोलन के प्रमुख नेताओं में से एक लिंगराज आजाद ने आंदोलन का विवरण देते हुए बताया कि 2002 से शुरू हुआ नियमगिरि आंदोलन दो तरह से चला। पहले लांजीगढ़ में रिफाइनरी को लेकर जो निर्माण कार्य चल रहा था उसका ही विरोध था। फर्जी ग्रामसभा करके निर्माण का कार्य चलता रहा। पर हमने हार नहीं मानी और आंदोलन को आगे बढ़ाने की कोशिश की। वेदांत के पास खनन का लाइसेंस नहीं था फिर भी उन्होंने रिफाइनरी का करीब 50 प्रतिशत निर्माण कर लिया।

सक्सेना समिति की रिपोर्ट के आधार पर लग रहा था कि सुप्रीम कोर्ट हमारे पक्ष में फैसला देगी। पर सुप्रीम

कोर्ट ने फैसला कंपनी के पक्ष में दिया। तब हमने कहा कि सुप्रीम कोर्ट से ऊपर देश की जनता है। आंदोलन जारी रहा और अलग-अलग क्षेत्रों के लोगों ने हमें मदद दी।

यह आंदोलन प्रकृति, संस्कृति और मानवता को बचाने का आंदोलन है। यह जीवन और आजीविका के लिए चलने वाला आंदोलन है। इसलिए पैसे की ताकत यहां चल नहीं पाई। आंदोलन के नेताओं को कंपनी ने खरीद लिया तो लगा कि ऐसी स्थिति में सामूहिक नेतृत्व विकसित किया जाना चाहिए और हमने ऐसा ही किया।

यह लड़ाई न तो एनजीओ का आंदोलन है और न माओवादी का है। यह आम जनता का आंदोलन है और सारे लोग सामूहिक रूप से इसका नेतृत्व कर रहे हैं। पहाड़ के ऊपर 112 गांव हैं पर कंपनी के कहने से सिर्फ 12 गांव की ग्रामसभा कराने का आदेश हो पाया। सरकार ने शायद सोचा कि पैसे से इन 12 गांवों को खरीद लिया जाएगा, पर ऐसा हो नहीं पाया। माओवादियों ने विज्ञप्ति जारी की कि हम ग्रामसभा नहीं होने देंगे। पर हमने आदिवासी नेताओं को बुलाया और तय किया कि हम न तो माओवादियों से डरेंगे और न सरकार से डरेंगे। इस जीत को हम जीत नहीं मानते। गंधमार्दन की जीत हुई थी। लेकिन आज वह फिर से खनन के लिए दिया जा रहा है। यदि संगठन ताकतवर होगा तो फैक्ट्री भी क्यों रहनी चाहिए। ओडिशा में चलने वाले सारे आंदोलनों में लांजीगढ़ और नियमगिरि के आंदोलन में सहयोग किया। आगे भी हम सहयोग लेते-देते रहेंगे।

लंदन के 'फायल वेदांता' समूह के समरेंद्र दास ने कहा कि वर्ष 2000 के दशक में जगतीकरण का दूसरा दौर यूरोप में शुरू हुआ। उसके बाद 2003 में स्टर्लाइट का अधिग्रहण हुआ। इसके बाद यह कंपनी ही वेदांत बनी। तब उसके बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स में वर्तमान वित्तमंत्री पी. चिदंबरम थे। उन्होंने 2004 में भारत का वित्तमंत्री बनने से एक दिन पहले इस्तीफा दिया था।

जब वेदांत ने घोषित कर दिया कि उसे पूरा नियमगिरि पहाड़ मिल गया है तो इसी बलबूते पर उसे बाजार से 10 हजार करोड़ रूपए का कर्ज प्राप्त हो गया। कॉरपोरेट का चरित्र आज अलग हो गया है। वे राष्ट्र दायरे

से ऊपर हो गए हैं लेकिन राष्ट्रों का उपयोग अपने हित में करते हैं।

अर्थशास्त्र ने एक नई शाखा का विकास कर लिया है। हर चीजों का एक मूल्य होता है। पर कुछ चीजें ऐसी होती हैं जिनका कोई मूल्य नहीं होता। ऐसी ही एक जगह है नियमगिरि- जिसे आप रुपयों में नहीं तोल सकते। दुर्भाग्यपूर्ण यह है कि इस बात को सुप्रीम कोर्ट नहीं समझ पाया। डोंगरिया कंध आदिवासियों का कहना है कि उन्हें बाजार से तेल और नमक के अलावा और कुछ नहीं चाहिए। नियमगिरि में खनन होने से जो नुकसान होगा वह अपूरणीय है। आज नाइजीरिया और केन्या में कई आदिवासी जातियों के लोग बात कर रहे हैं- डोंगरिया कंध लोगों के संघर्ष के बारे में। एनजीओ के साथियों से अनुरोध है कि वे सहयोग करते समय अपने आप को दूसरे कार्यकर्ताओं के समान समझे। त्रिनिदाद में चार हजार मछुआरों ने हमारे 'फॉयल वेदांता' समूह का सहयोग किया है।

कई बार इस तरह का भ्रम पैदा किया जाता है कि क्या आप औद्योगिकीकरण नहीं चाहते हैं? क्या आप विकास नहीं चाहते? इस

आंदोलन को सिर्फ आदिवासियों के आंदोलन के रूप में बताया जाता है पर इस आंदोलन में आदिवासियों के अलावा दलित व बहुजन भी साथ रहे हैं।

सजप के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष लिंगराज ने कहा कि ओडिशा में कॉरपोरेट खनन के खिलाफ जो आंदोलन चल रहे हैं उनमें दो आंदोलन सबसे प्रमुख हैं- नियमगिरि और पोस्को। इन लड़ाइयों के माध्यम से ओडिशा में जो कॉरपोरेट लड़ाई चल रही है, वह चर्चा में आती है। इस लड़ाई के कई मुद्दे हैं। खनन का भविष्य क्या होगा नियमगिरि में? नियमगिरि के चारों ओर 112 गांव हैं।

ओडिशा माइनिंग कॉरपोरेशन और वेदांत के बीच में खुल्लमखुल्ला सांठगांठ चल रही थी। ओडिशा सरकार ने जब सिर्फ 12 ग्रामों में ग्रामसभाओं का आयोजन किया। इसका क्या निर्णय होगा, यह सस्पेंस था? पहले के एक-दो गांवों में आदिवासी परिवार न के बराबर थे। एक गांव में वेदांत सबसे ज्यादा कॉरपोरेट सामाजिक दायित्व (जन कल्याण का काम करने)का दावा करती थी।

प्रशासन व सरकार की चालबाजी को समझते हुए और नकारते हुए इन 12 गांवों की ग्रामसभाओं ने वेदांत के खिलाफ निर्णय दिया। आज देश के अन्य खनन इलाकों में लड़ रहे लोग सोच रहे हैं कि काश हमें भी ग्रामसभाओं के माध्यम से फैसला करने को मिलता। वेदांत के मालिक अनिल अग्रवाल ने कहा कि हम नियमगिरि को अपना लॉचिंग पैड मानते थे। अभी जयराम रमेश ओडिशा गए थे और ओडिशा सरकार को यह बोलकर आए हैं कि आप वेदांत के लिए कोई दूसरा खनन इलाका दे दें। अंतिम आदमी की जीत हुई है या नहीं, यह एक बड़ा सवाल है।

1980 में गंधमार्दन में बाल्को की बॉक्साइट खनन परियोजना के खिलाफ जबरस्त लड़ाई शुरू हुई थी। इसमें सारी तैयारियां हो गई थीं और कुछ हद तक खनन शुरू हो जाने के बाद आंदोलन शुरू हुआ। इसके बावजूद आंदोलन के दबाव में खनन को रद्द करना पड़ा।

“माओवादियों ने विज्ञप्ति जारी की कि हम ग्रामसभा नहीं होने देंगे। पर हमने आदिवासी नेताओं को बुलाया और तय किया कि हम न तो माओवादियों से डरेंगे और न सरकार से डरेंगे”

दूसरा आंदोलन काशीपुर में उत्कल अल्युमीनियम कंपनी के खिलाफ था। यह आंदोलन 13 साल चलने के बाद फिलहाल ठप हो गया है।

अब वहां खनन शुरू होने वाला है। पोस्को में भी ढिंकिया गांव पूरे प्रोजेक्ट को रोके हुए था, अब उस गांव को छोड़कर बाकी गांव के अधिग्रहित जमीन पर प्रोजेक्ट शुरू करने का निर्णय लिया है। इस पृष्ठभूमि में हम नियमगिरि के फैसले को कैसे देखेंगे, यह सवाल है। इसके साथ ही नियमगिरि आंदोलन का एक राजनीतिक पहलू भी है जिसे देखना चाहिए।

कार्यक्रम के प्रारंभ में नियमगिरि आंदोलन के साथी राजकिशोर ने नियमगिरि आंदोलन के दौरान गांव-गांव प्रचलित हो चुका क्रांति गीत प्रस्तुत किया। कार्यक्रम की शुरुआत में ही समाजवादी जन परिषद, दिल्ली के अध्यक्ष अतुल कुमार ने स्वागत किया और नियमगिरि आंदोलन की शुरुआत से लेकर अब तक का तारीखवार संक्षिप्त ब्यौरा प्रस्तुत किया। कार्यक्रम का संचालन दिल्ली इकाई की महासचिव प्योली स्वातिजा ने किया। सजप की दिल्ली इकाई की ओर से सभी आंदोलनकारियों को गमछा ओढ़ाकर सम्मानित किया गया।

09971052227 atul.kumaar@gmail.com

बदलाव के लिए युवाओं को आगे आना होगा

अब्दुल हासिम

मौजूदा राजनीति दो राष्ट्रीय दलों भाजपा और कांग्रेस के इर्द-गिर्द केंद्रित होती जा रही है। दोनों दल की नीतियां एक जैसी हैं। राजनीति केवल सत्ता प्राप्ति का माध्यम नहीं होना चाहिए। आमूल-चूल बदलाव के लिए युवाओं को आगे आना होगा। गैरबराबरी और सांप्रदायिकता को जड़ से मिटाना होगा। ये विचार समाजवादी जन परिषद के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष श्री लिंगराज ने विद्यार्थी युवजन सभा के राष्ट्रीय प्रशिक्षण शिविर में व्यक्त किए।

विद्यार्थी युवजन सभा का तीन दिवसीय राष्ट्रीय प्रशिक्षण शिविर खादी आश्रम परिसर, कन्हौली, मुजफ्फरपुर में संपन्न हुआ। शिविर का उद्घाटन समाजवादी जनपरिषद के राष्ट्रीय महामंत्री सुनील ने किया। उन्होंने 'वर्तमान शिक्षा नीति बनाम वैकल्पिक शिक्षा नीति' विषय पर बोलते हुए शिक्षा में विभिन्न तरह के गैरबराबरियों को रेखांकित किया। वर्तमान शिक्षा नीति से देश में गैरबराबरी बढ़ रही है। आज जिस व्यक्ति की सामाजिक-आर्थिक स्थिति जैसी, उसके बच्चे की शिक्षा का स्तर भी वैसा ही है। अर्थात् शिक्षा सामाजिक-आर्थिक हैसियत से तय होती है जो लोकतंत्र के लिए घातक है। एक लोकतंत्रिक देश में सरकार की यह जिम्मेदारी होती है कि सबको शिक्षा उपलब्ध कराए। लेकिन भारत में ठीक इसके उलट शिक्षा की व्यवस्था चल रही है। शिक्षा अधिकार कानून 2009 में चार तरह की स्कूली व्यवस्था की बात है, जबकि कोठारी कमीशन ने 1964 में समान स्कूल प्रणाली की बात की थी। शिक्षा अधिकार कानून में सरकार ने कोठारी आयोग की सिफारिश को दरकिनार करते हुए शिक्षा में गैर बराबरी को खत्म करने की बजाय बढ़ाया है। इसका तीव्र विरोध होना चाहिए। हमें यह मांग करनी चाहिए कि सरकार सार्वजनिक वित्त पर आधारित समान शिक्षा 'केजी से पीजी तक' सबको मुफ्त व अनिवार्य रूप से उपलब्ध कराए।

शिविर में दूसरा सत्र 'समाजवाद का वैश्विक परिदृश्य' विषय पर था। इस विषय पर बोलते हुए समाजवादी चिंतक सच्चिदानंद सिन्हा ने स्पष्ट किया कि समाजवाद की कोई एक विश्वदृष्टि नहीं हो सकती। वैश्विक परिदृश्य में अलग-अलग देशों में समाजवाद का अलग-

अलग रूप हो सकता है, जो साझा व सहयोग की संस्कृति पर आधारित स्थानीय संसाधनों से स्थानीय लोगों के विकास की परिकल्पना के रूप में संचालित होगा। वर्तमान विकास की प्रक्रिया ने पर्यावरण संकट को और गहरा किया है। ऐसी परिस्थिति में विकास की परिकल्पना वर्तमान विकास से अलग ही हो सकती है, जो मनुष्यता और प्रकृति के पक्ष में होगी। समाजवाद की विश्व दृष्टि के नाम पर हम केवल तानाशाही थोप सकते हैं जैसा कि रूस में हुआ। रूस का समाजवादी मॉडल असफल रहा है। इसको देखते हुए हमें समाजवाद की परिकल्पना अपनी परिस्थितियों के अनुरूप करना होगा।

प्रशिक्षण शिविर का तीसरा वैचारिक सत्र 'वैकल्पिक अर्थनीति और रोजगार' विषय पर था। इस विषय पर बोलते हुए सामयिक वार्ता के संपादक सुनील भाई ने कहा कि वर्तमान अर्थव्यवस्था में रोजगार के अवसर लगातार कम हो रहे हैं। गांव में रोजगार न होने से गांव उजड़ रहे हैं। विस्थापन की समस्या गंभीर हो चुकी है। गांधी जी ने भारत की जनसंख्या व जीवन परिस्थितियों को देखते हुए एक ऐसी उत्पादन प्रणाली की परिकल्पना की थी जो अधिकतम लोगों को रोजगार उपलब्ध करा सके। आज भारत की अर्थव्यवस्था ठीक इसके विपरीत चल रही है। बड़ी मशीनों द्वारा उत्पादन हो रहा है जिसमें मुट्ठीभर लोगों को रोजगार मिल पाता है। गरीबी और बेरोजगारी आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था का प्रमुख लक्षण है। गरीबी को खत्म करने के लिए आधुनिक उत्पादन प्रणाली को बदलना होगा। इसका विकल्प विकेंद्रित उत्पादन प्रणाली हो सकता है।

शिविर का चौथा सत्र 'हिंसा की संस्कृति और स्त्री' को संबोधित करते हुए बीएचयू की डा. स्वाति ने कहा कि हम उस समाज को कभी बराबरी का नहीं मानेंगे जहां नर-नारी में समानता न हो। घरेलू उद्योग के दौर में गैरबराबरी नहीं थी किंतु औद्योगिक क्रांति के बाद स्त्रियों की स्थिति अत्यंत दयनीय हुई है। इसी सत्र में दूसरी वक्ता महाराष्ट्र की निशा शिवूरकर ने कहा कि हिंसा की कोई संस्कृति नहीं होती है। आज स्थिति ऐसी है कि लड़की होने का मतलब कम सत्ता, कम अधिकार तथा कम

सोच-विचार हो गया है। स्त्रियों के प्रति हिंसा का प्रमुख कारण यह है कि पुरुष बहुत कुंठित हो गए हैं। तीसरे वक्ता के रूप में बंगलौर की एडवोकेट अखिला ने कहा कि संपत्ति में, समाज में, राजनीति में एवं नौकरियों और पेशों में समान अधिकार देकर नारी को सशक्त किया जा सकता है।

शिविर के पांचवे सत्र 'राजनीति का मौजूदा परिदृश्य और युवजनों की भूमिका' को सजप के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष लिंगराज (उड़ीसा) ने संबोधित किया। उन्होंने कहा कि वर्तमान राजनीति में भाई-भतीजावाद, भ्रष्टाचार, क्षेत्रीयता एवं सांप्रदायवाद चरम पर है। देश की राजनीति दो दलों के इर्दगिर्द केंद्रित होती रही है। दोनों दलों में आर्थिक-राजनीतिक मुद्दों पर समानता है।

'उदारीकरण के बाद भारत की संस्कृति और भाषा नीति' के सत्र को संबोधित करते हुए प्राध्यापक डा. प्रमोद कुमार ने कहा कि भाषा का संबंध उस देश की संपूर्ण व्यवस्था से है। अंगरेजी के वर्चस्व को तोड़ना होगा, नहीं तो देश के अधिकांश प्रतिभावान विद्यार्थियों की प्रतिभा कुंठित हो जाएगी।

'वर्तमान कृषि संकट व समाधान' के सत्र को संबोधित करते हुए लिंगराज ने कहा कि भारतीय कृषि गंभीर संकट से गुजर रही है। खेती-किसानी घाटे का सौदा बन चुकी है। कृषि की उत्पादन लागत बढ़ रही है वहीं उत्पाद का मूल्य लागत के अनुसार नहीं है, जिससे अभी लगभग 2 लाख 80 हजार किसान आत्महत्या कर चुके हैं। हरित क्रांति के बाद खेती संकट और गहराता जा रहा है। खेती-किसानी भारत की जीवन रेखा है।

शिविर के आठवें सत्र 'संगठन निर्माण की चुनौतियां' विषय को संबोधित करते हुए जनजागरण शक्ति संगठन की कामायनी ने कहा कि सूचना के अधिकार का इस्तेमाल करके गरीबों को न्याय दिलाया जा सकता है। संगठन

निर्माण में हाशिये पर खड़े समुदाय को प्राथमिकता देना होगा। नेतृत्व उनके बीच से उभारना होगा। इसके लिए महानगर व राजधानी में रहने के बदले गरीबों के बीच रहना होगा।

शिविर का आखिरी सत्र खुला सत्र था। जिसका विषय 'जल-जंगल जमीन और वैकल्पिक राजनीति' था। इस विषय पर बोलते हुए नियमगिरि आंदोलन के नेता लिंगराज आजाद ने किशन पटनायक को याद किया। उन्होंने कहा कि वेदांत कंपनी के खिलाफ ओड़िशा के आदिवासियों द्वारा लिए गए निर्णय पूरे विश्व के लिए उदाहरण हैं। जनता की शक्ति सर्वोच्च होती है, जब वह जाग जाती है तो हर तरह का बदलाव संभव हो जाता है।

इस अवसर पर नियमगिरि आंदोलन के प्रमुख नेता लिंगराज आजाद, लिंगराज एवं राजकिशोर को शॉल भेंट कर सम्मानित किया गया। प्रख्यात समाजशास्त्री व पूर्व कुलपति डा. एमएन कर्ण ने उनका सम्मान किया। साथ ही सजप अध्यक्ष जोशी जैकब द्वारा संपादित पुस्तक 'ए स्टेप टूवर्ड्स ए न्यू पॉलिटिक्स' का लोकार्पण भी किया गया।

ओड़िशा के रंगकर्मी शंकर एवं राजकिशोर द्वारा नुक्कड़ नाटक एवं क्रांतिकारी गीत प्रस्तुत किए गए।

शिविर के अंत में विद्यार्थी युवजन सभा का पुनर्गठन करते हुए अरमान को राष्ट्रीय अध्यक्ष, शिउली वनजा को राष्ट्रीय महामंत्री बनाया गया। राष्ट्रीय कार्यकारिणी में ओड़िशा से सरोज, मनुप्रधान, नीरज और त्रिलोचन, दिल्ली से इकबाल अभिमन्यु और मंजू, बिहार से रंजीत और नवेंदु प्रियदर्शी, यूपी से शैलेश, बंगाल से संजय और दीपक एवं मध्यप्रदेश से राजीव को चुना गया। धन्यवाद ज्ञापन रणजीत कुमार तथा मंच संचालन नवेन्दु प्रियदर्शी ने किया। इस शिविर में बिहार, ओड़िशा, झारखंड, दिल्ली, उत्तरप्रदेश, केरल, बंगाल एवं कर्नाटक से युवाओं ने भाग लिया।

ahasim.jamia@gmail.com

हार में जीत

आशीष रंजन

गांधी की जन्मतिथि के मौके पर रामचंद्र गुहा ने एक साक्षात्कार में कहा कि वह देश की राजनितिक स्थिति से बहुत निराश नहीं है। वह अलग-अलग जगह हो रहे आंदोलनों को लेकर आशावान हैं और देश की परिस्थिति

बदलने की राह उसमें देखते हैं। मुझे लगा कि मेरे मन में जो बातें थीं उन्होंने कह डाली। ऐसे सैकड़ों व्यक्ति और समूह हमारे देश में हैं जो अपने स्तर पर बहुत बड़े अदम्य साहस के साथ अहिंसक तरीके से लड़ रहे हैं। अपने काम

के दौरान मैंने बिहार में कुछ गांव स्तर के संघर्षों और उनकी जीत को देखा है।

बिहार के कटिहार जिले के मनसाही प्रखंड में एक टोली बनी है कुछ साहसी लोगों की, जिनमें प्रमुख है दीपनारायण पासवान, अरूण यादव, जितेन्द्र पासवान और नीला देवी। सब बहुत कम पढ़े-लिखे भूमिहीन मजदूर हैं। अरूण को छोड़कर सभी मनसाही प्रखंड के चित्तोरिया पंचायत में रहते हैं। अरूण मोहनपुर पंचायत में रहते हैं।

तीन साल पहले जन जागरण शक्ति संगठन के साथी 'काम मांगो पदयात्रा' लेकर उनकी पंचायत में आए थे। एक रात टोली अरूण के घर के पास पंचायत के सामुदायिक भवन में रुकी और एक रात चित्तोरिया में। टोली के साथ बतियाते हुए अरूण, दीपनारायण और जितेन्द्र को लगा कि कुछ हो सकता है। उन्होंने मनरेगा में काम मांगने से शुरुआत की। ब्लॉक में आवेदन देने गए तो लिया नहीं गया। बदतमीजी की गई और लौटना पड़ा। अधिकारियों का व्यवहार कोई आश्चर्यजनक नहीं था पर कड़े तेवर के जितेन्द्र पासवान और बहुत धीमा और मीठा बोलने वाले अरूण मानने वाले कहां थे? दीपनारायणजी जो सबसे बड़े उम्र के थे, उन्होंने जन जागरण की टीम के साथ रणनीति बनाई। तैयारी शुरु की गई। नीला देवी ने महिलाओं को जोड़ना शुरु किया। पूरी टीम ने मिलकर निर्णय किया कि प्रदर्शन करेंगे। यात्रा में बुलंद हुआ नारा 'हम हमारा हक मांगते, नहीं किसी से भीख मांगते'। ब्लॉक का घेराव हुआ, जबरदस्त। अधिकारी नाना प्रकार के बहाने बनाते रहे पर उनकी चलने नहीं दी गई। कर्मचारियों को ब्लॉक से निकल जाने का मौका नहीं दिया गया। काफी उथल-पुथल के बाद विवश होकर शाम तक आवेदन की रसीद देना पड़ा।

चित्तोरिया में कुछ दिनों बाद काम भी मिला लेकिन ऐसी जगह, जहां पहुंचना काफी कठिन था- टोला से 13 किलोमीटर दूर नदी के किनारे, जहां आने-जाने का कोई साधन नहीं। पुरुष तो साईकिल से जा सकते थे पर महिलाओं को तो चल के ही जाना पड़ता। ऐसा नहीं था कि लोग संगठित हो चुके थे। अभी तो शुरुआत थी। ऐसे में मनरेगा का काम, जिसका पैसा कब मिलेगा पता नहीं, करने के लिए रोज 26 किलोमीटर चलना एक कठिन परीक्षा थी। बैठकें हुईं और नीला देवी के नेतृत्व में चित्तोरिया की महिलाओं ने काम लेने की ठानी। इस काम ने लोगों के हौसले को बुलंद किया। सौ-दो सौ मजदूरों ने जब

एक साथ इतनी दूरियां तय कि तो उनका संगठित होने पर विश्वास भी बढ़ता गया। इसके बाद लोगों को चित्तोरिया में ही बांध मरम्मत का काम मिला। 200 मजदूरों ने वहां भी जम के काम किया और यह एक 'मॉडल' काम की जगह बनी जहां पानी, छाया, बच्चों के लिए पालनाघर इत्यादि का भी इंतजाम संभव हो पाया।

उसके बाद पंचायत में चुनाव हुए। दीपनारायण जी मजदूरों के प्रत्याशी बन कर उभरे। चित्तोरिया स्थानीय विधायक का घर भी है और आरक्षित सीट नहीं है। वहां एक दलित का मजबूती के साथ खड़ा होना एक वर्ग के लिए सीधी चुनौती थी। फोन पर कभी धमकियां तो कभी प्रलोभन दिया जाने लगा। दीपनारायणजी ने चुनाव में एलान किया कि वह सिर्फ 5000 रुपए खर्च करेंगे। पांच रुपए का कूपन बना चंदा इकट्ठा करने के लिए। पूरा माहौल ऐसा बना कि लोग अचंभित थे। चुनाव में सारे प्रपंच रचे गए ताकि दीपनारायणजी हारे। चुनाव के एक रात पहले एक महिला समर्थक को घर से जबरन उठा लिया गया और फिर छोड़ दिया गया। जन जागरण शक्ति संगठन के साथी जो मदद के लिए एक दिन पहले आए थे उन्हें छिपना पड़ा। दबंग प्रत्याशी उन्हें ढूंढ रहे थे। कोई खेत में छुपा तो कोई किसी कोने में। एक रात पहले शराब, पैसा, मांस, साड़ी सभी कुछ बांटा गया खासकर दलित और आदिवासी मोहल्ले में। कई लोगों के यहां जबरदस्ती सामान रखा गया। पूरा माहौल भयाक्रांत बनाया गया। दो दिन पहले दीपनारायणजी पर चुनाव अधिकारियों ने रैली निकालने के लिए एफआईआर भी दर्ज कराई। चुनाव हुए, नतीजा निकला तो दीपनारायणजी करीब 60 वोट से हार गए।

रंजीत पासवान जो संगठन की ओर से इस प्रक्रियाओं से जुड़े हुए थे, ने पहले से ही पैसा बचा कर दीपनारायणजी के लिए एक नया कुरता खरीदा था। दीपनारायणजी, जो हमेशा फटा और मैला कुरता पहनते थे, को रंजीत ने सबके सामने कुरता यह कहते हुए पहनाया कि हमारी लड़ाई की जीत हुई है। प्रक्रिया की जीत हुई है।

इस चुनाव को हुए दो साल से अधिक हो गया है। चित्तोरिया और मोहनपुर के मजदूर मीटिंग कर रहे हैं कि उन्हें सरकारी रेट पर ही राशन दिया जाए और पूरा राशन दिया जाए। कुछ दिन पहले ही उन्होंने तीन अलग-अलग टोलों में दिन भर का धरना कर प्रशासन को मजबूर कर दिया कि उन्हें उनका हक दिया जाए।

ashish.ranjanjha@gmail.com

आदिवासी युवती के साथ सामूहिक दुष्कर्म

फागराम

मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले की सिवनीमालवा तहसील में एक आदिवासी युवती के साथ कई दिन तक सामूहिक बलात्कार और बाद में पुलिस में शिकायत वापस न लेने पर जबरन उसे जहर पिलाकर हत्या करने की कोशिश की संगीन घटना हुई। इससे अपराधियों और अत्याचारियों के हौसले कितने बढ़े हुए हैं, और वे कितने बेखौफ हैं, इसका पता चलता है। मध्य प्रदेश की भाजपा सरकार के सुशासन के दावों की पोल भी इससे खुल जाती है।

होशंगाबाद जिले के शिवपुर थाने के अंतर्गत ग्राम चापड़ाग्रहण में जगदीश प्रसाद धुर्वे और अमराईबाई की शादीशुदा बेटी सावन के मौके पर अपने मायके आई थी। 13 अगस्त को गांव के कुछ दबंग लोग उसे उठाकर ले गए। पांच दिन तक अलग-अलग जगह ले जाकर कई लोगों ने उसके साथ बलात्कार किया। माता-पिता ने शिवपुर थाने में लड़की के लापता होने की शिकायत की। एक दिन तो पुलिस ने टाल दिया। दूसरे दिन रिपोर्ट लिखी, लेकिन उसे खोजने की कोई खास कोशिश नहीं की। पांच दिन बाद बलात्कारियों ने उसे घर के पास छोड़ दिया, तब जाकर फिर यह आदिवासी परिवार थाने गया और 18 अगस्त को बलात्कार की रिपोर्ट लिखवाई।

पुलिस ने गांव के चार लोगों को गिरफ्तार किया। राजकुमार जाट उर्फ 'धरमू', तातु अशोक, मुकेश उर्फ 'मुगली' जाट और शिवनारायण जाट, लेकिन ये लोग दस दिन में जमानत पर बाहर आ गए। अब वे रिपोर्ट वापस लेने और बयान बदलने का दबाव डालने लगे। दो लाख रुपये और पांच एकड़ जमीन देने का लालच भी दिया, लेकिन पीड़ित परिवार ने मना कर दिया। तब 28 सितंबर को फिर चार पांच लोग घर में आए। मां-बाप तो बाहर काम पर गए थे, युवती घर में अकेली थी। फिर उन्होंने बयान बदलने के लिए कहा। युवती ने मना कर दिया। तब उन लोगों ने उसको पकड़ा, जबरन लिटाया, उसके ऊपर चढ़ गए और जबरदस्ती उसके मुंह को खोलकर उसमें जहरीली कीटनाशक दवाई डाल दी। मां-बाप लौट कर आए तो अपनी बेटी को बेहोश हालत में देखा। किसी तरह अस्पताल लेकर आए। होश में आने पर उसने बताया तो फिर थाने में रपट लिखाई।

पूरे मामले में कई सवाल खड़े होते हैं-

1. जब आदिवासी मां-बाप अपनी लड़की के गायब होने की शिकायत लिखाने गए थे तो पुलिस ने तत्परता से कारवाई क्यों नहीं की? खोजबीन करके उसे तुरंत अत्याचारियों के चंगुल से क्यों नहीं छुड़ाया? पांच दिन तक उसके साथ सामूहिक बलात्कार क्यों होता रहा? क्या किसी बड़े आदमी की बेटी गायब होती तो भी पुलिस इसी तरह सुस्त और लापरवाह बनी रहती?

2. गिरफ्तार होने के दस दिन के अंदर सारे अपराधी जमानत पर कैसे जेल से छूट गए? सरकारी वकील ने जमानत का विरोध क्यों नहीं किया? क्या पुलिस ने कमजोर केस बनाया? क्या जज भी अपना कर्तव्य भूल गया? देश में बलात्कार के खिलाफ इतना बवाल हुआ है, संसद ने कड़ा कानून बनाया है, सर्वोच्च न्यायालय ने कड़े निर्देश दिए हैं, उनका क्या हुआ? क्या देश के कानून होशंगाबाद जिले में नहीं लागू होते हैं? क्या ये कानून गरीब आदिवासियों और दलितों के लिए नहीं हैं?

3. बलात्कार पीड़ित आदिवासी युवती को जबरन जहर पिलाने की घटना उस दिन हुई, जिस दिन मध्य प्रदेश के मुख्यमंत्री शिवराज सिंह चौहान इसी जिले में 'जन आशीर्वाद यात्रा' पर आये थे। गौरतलब है कि सिवनीमालवा के भाजपा विधायक सरताज सिंह प्रदेश में वन मंत्री हैं। जिस गांव की यह घटना है, उसके बगल में ही हरदा जिला शुरू हो जाता है। इस जिले के भाजपा विधायक एवं पूर्व मंत्री कमल पटेल हैं, जिसके ऊपर हत्या और अन्य केस चल रहे हैं और वे भी जाट हैं। कमल पटेल पर ही समाजवादी जन परिषद की नेता शमीम मोदी पर मुंबई में प्राणघातक हमला करवाने का आरोप लगा है। विपक्षी दल कांग्रेस का भी कोई बयान नहीं आया है। स्थानीय विधायक एवं वन मंत्री न तो पीड़ित युवती को मिलने और देखने आए और न कोई बयान दिया।

4. होशंगाबाद और हरदा जिले के मैदानी इलाके में आदिवासियों और दलितों की हालत बहुत खराब है। वे ज्यादातर गरीब भूमिहीन हैं, बड़े किसानों के यहां मजदूरी करते हैं, कई बार वे बंधुआ मजदूर होते हैं। देश के आजाद होने के और कितने दशक बाद यह हालत चलती रहेगी?

विनोद रैना

विज्ञान और जनांदोलनों को जोड़ने वाली शख्मियत

बाबा मायाराम



विनोद रैना जी नहीं रहे। उनका दिल्ली में 12 सितंबर की शाम को निधन हो गया। कुछ दिन से विनोद भाई कैंसर से पीड़ित थे। आज वे नहीं हैं तब उनके बारे में सोचने पर मेरे मानस पटल पर उनकी कई छवियां बन-बिगड़ रही हैं। लेकिन जो उनकी चिर-परिचित छवि थी—वो उनकी घनी दाढ़ी, गोल चश्मा और स्मित मुस्कान।

मेरा उनसे काफी पुराना परिचय है। करीब 30-32 साल पुराना। किशोर भारती का। उस समय जब बनखेड़ी से किशोर-भारती तक पहुंचने के लिए कोई ज्यादा वाहन नहीं चलते थे तो बनखेड़ी से साईकिल से जाना पड़ता था। अक्सर विनोद भाई भी साईकिल से आते थे।

उन दिनों होशंगाबाद विज्ञान का पाठ्यक्रम विकसित हो रहा था और विनोद भाई जैसे शिक्षाविद और वैज्ञानिक उसे विकसित करने में योगदान दे रहे थे। अक्सर जब मैं वहां जाता था तब वहां देखता था कि कोसम वृक्षों के नीचे बैठकर मीटिंग हो रही है। शिक्षक, शिक्षाविद और विभिन्न विषयों के जानकर विज्ञान के प्रयोग करते रहते थे। उनमें से एक विनोद रैना भी थे।

बाद में जब 'एकलव्य' बना तो विनोद रैना ही उसे बनाने और चलाने वालों में प्रमुख थे। वे एकलव्य के चेहरा

थे। वे हमेशा जनांदोलनों में विज्ञान की भूमिका देखते थे। मुझे पिछले 25 सालों में कई जगह जनांदोलनों में टकराए। वे शिक्षाविद होने के साथ सामाजिक कार्यकर्ता भी थे।

विनोद रैना और एकलव्य संस्था का योगदान अमूल्य है क्योंकि उन्होंने विज्ञान को एक प्रयोगशाला से निकालकर एक सोच के रूप में पेश किया। सवाल उठाने और जिज्ञासा को किसी भी खोज और प्रयोग के लिए आवश्यक बताया। मौजूदा शिक्षा जो केवल रटकर परीक्षा में उगल देने की कला है उसे समझने व सीखने का माध्यम बताया। बाद में सरकार ने बेतुके आरोप लगाकर उस लोकप्रिय प्रयोग को बंद करवा दिया। पर इससे उसका महत्व किसी भी रूप में कम नहीं होता।

बाद में वे जन विज्ञान आंदोलन, भारत ज्ञान विज्ञान समिति, वर्ल्ड सोशल फोरम और अनेक जनांदोलनों से जुड़े रहे। हाल ही में बने नए शिक्षा अधिकार कानून को बनाने में भी उनकी प्रमुख भूमिका रही है। विनोद भाई की कमी सदैव बनी रहेगी। लेकिन उनका काम और उनकी वैज्ञानिक सोच हमें रास्ता दिखाती रहेगी।

मोहन धारिया

युवा तुर्क और समाजवादी



जब अपनी कुरसी बचाने के लिए इंदिरा गांधी ने आपातकाल लगाया तो वे पहले केंद्रीय मंत्री थे, जिन्होंने इस्तीफा दिया और जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व वाले आंदोलन में शामिल हो गए। मोहन धारिया का निधन 88 वर्ष बरस की उमर में पूना में 12 अक्टूबर 2013 को हो गया।

महाराष्ट्र के रायगढ़ जिले में जन्मे मोहन धारिया 17 बरस की उम्र में 1942 से आजादी के आंदोलन में शामिल हो गए थे और जेल गए थे। वे पहले प्रजा सोशलिस्ट पार्टी में थे। फिर अशोक मेहता के साथ कांग्रेस में चले गए। कांग्रेस में मोहन धारिया, कृष्णकांत, चंद्रशेखर आदि को

'युवा तुर्क' के रूप में जाना जाता था। आपातकाल में 17 महीने जेल में रहे। उसके बाद वे मोरारजी

सरकार में वाणिज्य मंत्री बने। बाद में 1991 में चंद्रशेखर प्रधानमंत्री बने तो उन्हें योजना आयोग का उपाध्यक्ष बनाया गया था। उन्हें पद्मविभूषण से सम्मानित किया गया।

पिछले कुछ दशकों से सक्रिय राजनीति से सन्यास लेकर उन्होंने 'वनराई' नाम संस्था बनाई थी जो जल संरक्षण, वानिकी और पर्यावरण के मुद्दों पर काम करती थी।

(संकलित)

पिछड़ा ओड़िशा संघर्ष में आगे

किशन जी की याद में व्याख्यान

ओड़िशा, बरगढ़। समाजवादी चिंतक किशन पटनायक की 9 वीं पुण्यतिथि पर 27 सितंबर को बरगढ़ में स्मृति व्याख्यान का आयोजन किया गया। ओड़िशा के सुपरिचित मार्क्सवादी लेनिनवादी नेता गणनाथ पात्र मुख्य वक्ता थे। 1991 के बाद जन आंदोलनों में किशन पटनायक के साथ सक्रिय रूप से काम करने वाले गणनाथ पात्र ने 'ओड़िशा में जन आंदोलन और समाजवादी धारा निर्माण की चुनौती' विषय पर अपना व्याख्यान दिया। उन्होंने कहा कि ओड़िशा एक पिछड़ा राज्य होते हुए भी आज संघर्ष में आगे है। यहां कई आंदोलन हुए और जीते गए हैं। मौजूदा विकास पद्धति पर प्रश्न चिन्ह लगाने वाले इन आंदोलनों का मुख्य स्वर एक वैकल्पिक विकास पद्धति का निर्माण है।

इस कार्यक्रम के दूसरे वक्ता लंदन में रह रहे समरेंद्र दास थे। समरेंद्र द्वारा लिखित पुस्तिका 'सब लुहा लोककर' का विमोचन भी हुआ। इस पुस्तिका में उन्होंने भारत में लौह अयस्क के उत्खनन के नाम पर जारी लूट का विस्तार से वर्णन किया है। कार्यक्रम की अध्यक्षता राधाकिशन शर्मा ने की और संचालन लिंगराज ने किया। कार्यक्रम के अंत में अरूण कुमार साहू द्वारा रचित व निर्देशित नाटक 'चार नंबर माकर' का मंचन किया गया।

लिंगराज

विकास के मॉडल में छिपी हिंसा

मध्यप्रदेश, इटारसी। हम पर केंद्रीय विकास की प्रणाली थोप दी गई है। हर संसाधन का दोहन किया जा रहा है और हर चीज की कीमत लगाई जा रही है। हमारे जीवन के आधारों को नष्ट किया जा रहा है। हमारे देश का शोषण राजनीति, पूंजी और

ज्ञान के गिरोह कर रहे हैं। राजा भी भूमि का बंटवारा ऐसे नहीं करते थे जैसे आज के राजनेता कर रहे हैं। इस विकास सिद्धांत में हिंसा जुड़ी हुई है। विकास में स्त्रीवादी नजरिया भी आना चाहिए। मां की तरह सोचना चाहिए कि इस विकास का क्या प्रभाव होगा।

ये विचार मेधा पाटकर ने 28 सितंबर को इटारसी में आयोजित किशन पटनायक स्मृति व्याख्यान में व्यक्त किए। 'विकास की चुनौती और हम' विषय पर धाराप्रवाह भाषण के बाद सवाल-जवाब भी हुए। डा. कश्मीर उप्पल ने विषय प्रवेश किया और श्रीगोपाल गांगूड़ा ने संचालन किया। आयोजन सामयिक वार्ता और नारी जागृति मंच ने मिलकर किया था।

बाबा मायाराम

सजप का राज्य सम्मेलन

पश्चिम बंगाल, जलपाइगुड़ी। पिछले माह 28-29 सितंबर को धूपगुड़ी में समाजवादी जन परिषद का राज्य स्तरीय सम्मेलन संपन्न हुआ। सम्मेलन की शुरुआत में सजप के राष्ट्रीय सचिव अफलातून ने दल का झंडा फहराया। समाजवादी चिंतक किशन पटनायक की याद में अफलातूल, कमल बनर्जी, रणजीत राय और बिलकान बारा ने अपने विचार व्यक्त किए।

इसके बाद शाम को धूपगुड़ी चौक में आमसभा हुई, जिसे अफलातून, कमल बनर्जी, रणजीत राय, अकरम और बिलकान बाड़ा ने संबोधित किया।

इस मौके पर आगामी दो वर्षों के लिए सजप की नई राज्य समिति का गठन किया गया। जिसमें अध्यक्ष बिलकान बारा, महामंत्री विष्णुक्रांति, कोषाध्यक्ष जमालउद्दीन, उपाध्यक्ष अकरम हुसैन, विनय किशोर और

निर्माण और संघर्ष

सचिव श्यामल रायवीर, कृष्णकांत राय, जतीन राय को चुना गया। इसके साथ ही राजनैतिक, आर्थिक और उत्तर बंग की वर्तमान स्थिति पर प्रस्ताव भी पारित किया गया।

रणजीत राय

ओड़िशा में कार्यकर्ता शिविर

ओड़िशा, बरगढ़। समाजवादी जन परिषद और ओड़िशा कृषक संगठन के कार्यकर्ताओं का 31 अगस्त से 1 सितंबर तक दो दिवसीय प्रशिक्षण शिविर संपन्न हुआ। समाजवादी जन परिषद के राष्ट्रीय महासचिव सुनील ने 'देश के मौजूदा आर्थिक संकट और समाधान' तथा 'वैकल्पिक राजनीति निर्माण की चुनौती' विषयों पर वक्तव्य दिए। सुनील ने कहा कि रूपए का अवमूल्यन भारत में जारी गलत आर्थिक नीतियों का नतीजा है। उदारीकरण और भूमंडलीकरण के तहत जो विदेशी पूंजी तथा विदेशी कंपनी परस्त नीतियां अपनाई गईं और भारतीय अर्थव्यवस्था को पूर्ण रूप से विश्व बाजार से जोड़ दिया, मौजूदा संकट उसकी तार्किक परिणति है। शिविर के अन्य सत्र में सरोज ने 'कृषि क्षेत्र का संकट और किसान आंदोलन के सामने चुनौती' विषय पर बात रखी। उन्होंने कहा कि आज किसान आत्महत्या कर रहे हैं और किसान खेती छोड़ने की सोच रहे हैं। श्री सरोज ने कहा कि देश के शासकों के साथ मीडिया और साहित्य जगत भी इस संकट के प्रति संवेदनहीन हैं।

शिविर के उद्घाटन सत्र में नियमगिरि में वेदांत के खिलाफ संघर्ष करने वाले सजप के राष्ट्रीय सचिव लिंगराज आजाद और सांस्कृतिक कार्यकर्ता राजकिशोर का सम्मान किया गया। लिंगराज आजाद ने नियमगिरि आंदोलन के अपने अनुभव साझा किए। इस आंदोलन के दौरान उन पर कंपनी के गुंडों द्वारा तीन बार जानलेवा हमले हुए। उन्हें अलग-अलग समय में करीब 6 माह की जेल हुई। रात्रि में अमिताभ पात्र द्वारा तैयार नियमगिरि में आयोजित ग्रामसभाओं पर एक डाक्यूमेंट्री फिल्म दिखाई गई।

शिविर के अंतिम सत्र में भावी कार्यक्रमों पर चर्चा हुई। नवंबर के प्रथम सप्ताह में बरगढ़ में किसान रैली तथा दिसंबर अंत में नियमगिरि से गंधमार्दन तक संकल्प यात्रा आयोजित करने का निर्णय लिया गया। **हर वानिया**

बरगढ़ में विचार गोष्ठी

ओड़िशा, बरगढ़। स्थानीय 'गांधी स्मृति पाठागार' में गत 1 सितंबर को विचार गोष्ठी का आयोजन किया

गया। गोष्ठी के मुख्य वक्ता के रूप में सुनील ने 'भारतीय मुद्रा का अवमूल्यन और अर्थव्यवस्था का संकट' विषय को सरल ढंग से समझाया। कार्यक्रम की अध्यक्षता पूर्व विधायक दिंगबर कुअर ने की और पत्रकार उमेश विश्वास ने धन्यवाद दिया। कार्यक्रम में बड़ी संख्या में छात्र, बुद्धिजीवी व सामाजिक कार्यकर्ता उपस्थित थे।

अमिताभ पात्र

विचार-संवाद मातृभाषा में कीजिए

दिल्ली। गत 18 सितंबर को जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में 'अंगरेजी बनाम भारतीय भाषाओं का सवाल' विषय पर गोष्ठी का आयोजन किया गया। वक्ता के रूप में प्रो.मैनेजर पांडेय तथा प्रेमपाल शर्मा को आमंत्रित किया गया।

प्रेमपाल शर्मा ने बताया कि सरकार किस तरह अंगरेजी को बढ़ावा देकर हिंदी-भाषी प्रदेशों से तैयारी करने आए हुए छात्रों को परेशानी बढ़ा रही है।

प्रो. मैनेजर पांडेय ने इस बात पर जोर दिया कि ज्ञान प्राप्ति के लिए जितनी भी भाषाओं को जानना पड़े जानिए, लेकिन काम, सोच विचार और संवाद मातृभाषा में ही कीजिए। उन्होंने राहुल सांकृत्यायन और रामविलास शर्मा का उदाहरण देते हुए कहा कि राहुल जी लगभग 25 भाषाओं के ज्ञाता थे तथा शर्मा जी अंगरेजी के अध्यापक थे किंतु दोनों ने हमेशा हिंदी में लेखन किया।

प्रो.पांडेय ने आदिवासी भाषाओं को बचाने पर जोर दिया। इसके साथ ही उन्होंने अच्छे साहित्य पढ़ने पर भी जोर दिया। अच्छा साहित्य पढ़ने से अच्छी भाषा सीखने को मिलती है। वक्ताओं के वक्तव्य के बाद सवाल जवाब भी हुए। गोष्ठी में जेएनयू, जामिया मिलिया इस्लामिया और दिल्ली विश्वविद्यालय के छात्रों ने भाग लिया। गोष्ठी का संचालन इकबाल अभिमन्यु ने किया।

अब्दुल हासिम

राष्ट्रीय मजदूर अधिकार मोर्चा का गठन

मध्यप्रदेश, भोपाल। महात्मा गांधी ग्रामीण रोजगार गारंटी कानून के तहत 9 राज्यों में काम करने वाले श्रमिक संगठन एक सम्मेलन के लिए 18 से 20 सितंबर तक भोपाल में इकट्ठा हुए। अलग-अलग राज्यों में मनरेगा के क्रियान्वयन पर इन श्रमिकों और उनके संगठनों ने गहरा असंतोष दर्ज कराया। उन्होंने कहा 100 दिन के

रोजगार के हक का वास्तविक रूप में लागू होना आज भी एक सपना ही है। समूह ने इस कानून के कमजोर क्रियान्वयन और इसे निष्प्रभावी करने करने में राज्य और केंद्र सरकारों की नकारात्मक भूमिका की निंदा की। एक राष्ट्रीय मजदूर अधिकार मोर्चा का गठन किया गया।

मोर्चा के पहले कदम के रूप में तय किया गया कि आगामी लोकसभा और कुछ राज्यों में हो रहे विधानसभा चुनावों के मद्देनजर सरकार और राजनीतिक दलों को मजदूरों के सामने खड़े संकट से अवगत कराने के लिए अगले चार महीनों तक अभियान चलाया जाएगा और प्रदर्शन किए जाएंगे। अलग-अलग जगहों पर होने वाले प्रदर्शन 2 फरवरी 2014 को एक विशाल रैली में समाहित होंगे। गौरतलब है 2 फरवरी को ही भारत सरकार ने इस कानून को लागू किया था।

कामायनी

नर्मदा जल सत्याग्रह के समर्थन में धरना

मध्यप्रदेश, इटारसी। 'बापू हम शर्मिदा हैं, नर्मदा की संतानें जल सत्याग्रह को मजबूर क्यों, मुख्यमंत्री जवाब दो' - इस बैनर के साथ गत 11 सितंबर को होशंगाबाद जिले के नागरिकों ने इटारसी में जयस्तंभ चौक पर धरना दिया।

इंदिरासागर और अन्य नर्मदा बांधों के विस्थापितों द्वारा छह जगहों पर पिछले 11 दिनों से पानी में बैठकर जल-सत्याग्रह किया जा रहा था। उनका समर्थन करते हुए इस मौके पर मध्यप्रदेश सरकार की संवेदनहीनता की भर्त्सना की गई। मुख्यमंत्री को संबोधित एक सामूहिक ज्ञापन भेजा गया, जिसमें इंदिरा सागर बांध विस्थापितों की मांगों को स्वीकार कर जल सत्याग्रह समाप्त करवाने का आग्रह किया जाए। उन पर जेल-लाठी-गिरफ्तारी जैसी दमनात्मक कारवाइयां भी तत्काल बंद करने की मांग की गई।

इस सर्वदलीय व सामूहिक धरने में इटारसी के अतिरिक्त केसला, होशंगाबाद, पिपरिया आदि के नागरिक भी शरीक हुए। इस मौके पर एक आमसभा भी हुई। अगले दिन नारी जागृति मंच और समाजवादी जन परिषद का एक जत्था होशंगाबाद में नर्मदा घाट पर जल सत्याग्रह के समर्थन में पानी में बैठने गया। लेकिन भारी पुलिस बल ने पहुंचकर उन्हें रोक दिया। काफी नारेबाजी और झुमाझटकी हुई। इसमें कई महिलाओं ने भाग लिया।

विद्या मिश्रा

नरेंद्र दाभोलकर को श्रद्धांजलि

उत्तरप्रदेश, वाराणसी। डॉ. नरेंद्र दाभोलकर ने महाराष्ट्र में समतावादी आंदोलन को मजबूत नींव प्रदान की है। उनकी गिनती आजाद भारत के उन शहीदों में होगी, जिन्होंने धर्म और आस्था के नाम पर होने वाली धोखाधड़ी, फर्जीवाड़े और अत्याचार करने वालों के सामने घुटने नहीं टेके। ये विचार नागपुर के समतावादी कार्यकर्ता विलास भोंगाड़े ने समाजवादी जन परिषद के वाराणसी में शिवाला स्थित कार्यालय में आयोजित श्रद्धांजलि गोष्ठी में रखे। 25 अगस्त 2013 को हुई इस गोष्ठी की शुरुआत जनसत्ता के सहायक संपादक राजेंद्र राजन के काव्यपाठ से हुई।

अफलातून

मध्यप्रदेश, इटारसी। गत 6 सितंबर को सामाजिक कार्यकर्ता नरेंद्र दाभोलकर की स्मृति में इटारसी में एक विचार गोष्ठी का आयोजन किया गया। स्थानीय महाराष्ट्र हाई स्कूल में आयोजित इस गोष्ठी में 'विज्ञान, धर्म, परंपरा, रूढ़ियां और अंधविश्वास' विषय पर एक्सिला संस्था के राजेश पाराशर, समाजवादी जन परिषद के सुनील भाई, सेवानिवृत्त प्राचार्य डॉ.कश्मीर उप्पल, होशंगाबाद के शंभुनाथ गुप्ता, योगेश दीवान व एकलव्य की यमुना सन्नी ने अपने विचार रखे। इस कार्यक्रम का आयोजन एक्सिला, नारी जागृति मंच, जिला शिक्षा अधिकार मंच और सामयिक वार्ता ने मिलकर किया। संचालन ब्रजमोहन सोलंकी ने किया।

राजेश पाराशर

जेपी सीमेंट के खिलाफ आंदोलन

मध्यप्रदेश, सीधी। जेपी सीमेंट कंपनी को 5 सौ एकड़ जंगल जमीन लीज पर देने के खिलाफ कैमोर बचाओ आंदोलन के कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर जेल भेजा गया। गिरफ्तारी करते समय आंदोलनकारियों पर लाठियां भी चलाई गईं।

विंध्य पर्वत श्रृंखला के कैमोर पहाड़ में घना जंगल है। यहां सागौन, साज, सेंधा, तेंदू, चार सहित कई प्रजातियों के पेड़ हैं। हाल ही में कैमोर पहाड़ की करीब 5 सौ एकड़ जमीन जेपी सीमेंट को लीज पर दी गई है। इसके खिलाफ 27 सितंबर से आमरण अनशन शुरू किया गया लेकिन प्रशासन ने 9 वें दिन आंदोलनकारियों को उठा लिया गया। आंदोलन के संयोजक उमेश तिवारी समेत 22 लोगों को जेल में डाल दिया गया।

देश को बचाना है तो...

एक कथा याद आ रही है। एक व्यक्ति के घर में आग लग गई थी। लपटें देखकर लोगबाग शोर मचाने लगे। लोग दौड़ने भागने लगे। लेकिन उस घर में एक महिला आग से बेखबर अपने श्रृंगार में मगन थी। हमेशा सज-संवर कर रहना उसकी आदत थी। घर के लोग उसे जल्दी निकल भागने को कह रहे थे और वह फरमा रही थी, मेरे जूड़े को तो ठीक कर दो। यह कथा देश की वर्तमान हालत देखकर मुझे याद आई। पूरे देश में चारों तरफ आग लगी हुई है। अंदर भी और बाहर भी। लेकिन हमारी प्यारी सत्ता सुंदरी अपने श्रृंगार में मस्त है। देश की जनता महंगाई की आग में जले या अस्थिरता की आग में, सांप्रदायिक उन्माद की लपटों में झुलसे या आतंकी कार्रवाईयों की भेंट चढ़े, हमारे शासकों को कोई फर्क नहीं पड़ता। वे चैन की बंशी बजाते रहे हैं, बजाते रहेंगे। अंदर और बाहर के खतरों से देश विखंडन के कगार पर है। देश की एकता अखंडता की दुहाई चाहे जितनी दी जाए लेकिन इसकी रक्षा करने में हमारी शासन व्यवस्था विफल साबित हुई है। अंगरेजों से सत्ता हासिल करते वक्त हमारे देश की जो भौगोलिक सीमा थी, हम उसे भी नहीं बचा पाए।

भारतीय लोकतंत्र के प्रमुख स्तंभ भी स्वच्छ और निर्विवाद नहीं रहे। कार्यपालिका से जनता का विश्वास उठ गया है। बल्कि आम आदमी के भीतर उसके प्रति घृणा और असंतोष का भाव है। विधायिका के प्रति भी लोगों का सम्मान जाता रहा। रक्षक ही भक्षक की उक्ति को चरितार्थ करती हुई हमारी विधायिका ही विधान तोड़क की भूमिका में खड़ी हो गई। फिर जनता के मन में इसके प्रति सम्मान का भाव रहे भी तो कैसे? बची-खुची आस, लोगों का विश्वास न्यायपालिका पर टिका था। लेकिन हाल के वर्षों में न्यायपालिका से जुड़ी देश की कई घटनाओं ने इस संस्था को भी संदेहास्पद बना दिया है। कहना गलत न होगा कि न्याय सबके लिए समान और कानून सबके लिए बराबर जैसी स्थापना धूमिल हुई है और आम आदमी की यह धारणा मजबूत हुई कि कानून और न्याय भी सबल, साधन संपन्न एवं शक्ति संपन्न लोगों का पक्ष लेता है।

ऐसा निराशाजनक माहौल आजादी के बाद मैंने इसके पहले कभी नहीं देखा। रोना आता है कि क्या देश के इसी दुर्दिन के लिए हम लोगों ने स्वतंत्रता संग्राम में अपनी जवानी जलाई और जिंदगानी दांव पर लगाई। आज नीति, सिद्धांत, चरित्र निर्माण पर कोई बहस नहीं हो रही। वर्तमान राजनीति के एजेंडे में देश की बुनियादी समस्याओं का समाधान कोई मुद्दा नहीं है। बस सारी राजनीति 'कौन बनेगा प्रधानमंत्री' के फेरे लगा रही है। प्रधानमंत्री कौन बनेगा, यह देश की कोई समस्या नहीं है। उसकी स्पष्ट संवैधानिक प्रक्रिया है। लेकिन जो नियम कानून और परंपरा के विपरीत प्रधानमंत्री का नाम उछालने में लगे हैं, उनकी ये हरकतें संविधान की भावना के खिलाफ है। ऐसे लोग देश और संविधान के रक्षक नहीं हो सकते।

यही वक्त है जब हम सभी को मिल बैठकर चिंतन-मनन करने और विकल्प ढूंढने की आवश्यकता है। देश-दुनिया के मानव समाज को बचाना है तो थोरो, सुकरात, बुद्ध, महावीर, गांधी, लोहिया और जयप्रकाश के रास्ते पर चलने के अलावा दूसरा कोई विकल्प शायद नहीं है।

सीताराम सिंह

स्वतंत्रता सेनानी, पूर्व सांसद
गांधी आश्रम, हाजीपुर, बिहार

पत्रिका नहीं, वैचारिक आंदोलन

सामयिक वार्ता

**पढ़ें, पढ़ाएं, ग्राहक बनाएं,
मित्रों को उपहार दें**

देश और दुनिया की घटनाओं व हलचलों

को जानने-समझने और विश्लेषण में

मददगार एक पत्रिका

आखिरी पन्ना

बालू माफिया से लोहा लेती औरत

एक महिला अपने तीन बच्चों के साथ इन दिनों दिल्ली में जंतर-मंतर के पास केरल भवन के बाहर पीपल के पेड़ के नीचे फुटपाथ पर धरने पर बैठी हुई है। केरल के कन्नूर जिले में सागर किनारे रहने वाली इस महिला की मांग है कि उसके घर के पास बालू का अवैध खनन बंद किया जाए। इस के कारण सागर तट सिकुड़ता जा रहा है, पर्यावरण नष्ट हो रहा है और बारिश में उनके घरों में पानी घुस रहा है।

31 वर्षीय महिला का नाम वी जजीरा है। उसके तीनों बच्चे भी उसके साथ धरने पर बैठे हैं- 12 साल की रिजवाना, 10 साल की शिफाना और सबसे छोटा बच्चा डेढ़ साल का है। जजीरा ने सबसे पहले अगस्त में कन्नूर में अपना सत्याग्रह शुरू किया। उसके ऊपर हमले हुए, उसकी बेटियों की पिटाई हुई, धमकियां मिली। यहां तक कि हमले के बाद जब वह सरकारी अस्पताल में इलाज करा रही थी, वहां से भी उसे भगा दिया गया। तब उसने केरल की राजधानी तिरुअनंतपुरम में सचिवालय के बाहर 64 दिन तक धरना दिया। मुख्यमंत्री ने भी उसको आश्वासन दिया। लेकिन कोई

नतीजा नहीं निकला। तब जजीरा न्याय की उम्मीद में बच्चों के साथ दिल्ली आ गई।

जजीरा के ऊपर काफी दबाव आया। खुद उसका भाई बालू माफिया में शामिल है, इसलिए परिवार का दबाव भी आया। लेकिन उसके पति, एक मदरसा शिक्षक, ने उसे सहयोग किया। वह खुद ऑटो रिक्शा चलाती है।

दिल्ली पुलिस ने जजीरा से कहा कि वह रात को सड़क पर न रुके। लेकिन उसका कहना है कि वह सुबह 9 बजे से शाम 5 तक 'आफिस टाईम' का धरना करने दिल्ली नहीं आई है। जब एक पत्रकार ने पूछा कि महिलाओं के खिलाफ अपराध के लिए बदनाम दिल्ली में रात को बाहर सोते हुए उसे डर नहीं लगता, तो उसने कहा कि वह पहले काफी कुछ झेल चुकी है। उस पर हमले हुए और हमलावरों पर कोई कारवाई नहीं हुई। दिल्ली की सड़कें तो सुरक्षित लगती हैं।

ऐसे हौसले वाली हिम्मती महिला को

सलाम!

(संकलित, 16 अक्टूबर 2013)

